समर्पण

उन माता-पिता एवं संरक्षकों को जिनके हाथ में
राष्ट्र के भावी कर्णधार दीन, हीन एवं
निरीहावस्था में पड़े हैं

लेखक—

हमारी उदासीनता

हम अपने प्रति उदासीन हैं, अपने बच्चों के प्रति उदासीन हैं, वास्तविकता तो यह है कि हम जीवन के प्रति उदासीन हैं। यह आज से नहीं—युग-युगान्तर से। हम जीवन के दार्शनिक पहलू पर चाहे जितना जोर देते आये हों, जीवन के रहस्य पर जितना चिन्तन करते आये हों पर जीना और जीने देना आज तक नहीं सीख पाये। हमारी आध्यात्मिकता जिसका मूलाधार कल्पना और आदर्श रहा है, व्यावहारिकता का दामन न छू सकी। हम केवल मरने के लिए जीते हैं, जीने के लिए जीना या जिलाने के लिए जीना हमें नहीं आता।

हमारा पशु हमारे मनुष्य से सुन्दर है—इसलिए कि उसमें स्था-नि[illegible] है, हमारी दानवता हमारी मानवता से महान् है—इसलिए कि वह अजेय है। तब क्या हम अपने को मनु का बेटा कह सकते हैं? सभ्यता और असभ्यता का दुहाई देना यहाँ उचित नहीं। हम चाहे जितना सभ्य हों हमारी असभ्यता हमारा पल्ला पकड़े है, हम चाहे जितने सुसंस्कृत हों हमारे कुसंस्कार—जिन्हें सम्भवत: हमारा आदि पितामह पशु-मानव ने उत्तराधिकार रूप में दिया था, हमसे पृथक् नहीं। इसीलिए हम उदासीन हैं—अपने और अपने बच्चों के प्रति। हम जीना और जीने देना आज तक नहीं सीख पाये, यह शायद सबको खटकेगा पर बात अक्षरश: सत्य है।

का कर्तव्य है पर यहाँ एक का अधिकार उसी का कर्तव्य है। उसे कर्तव्य के लिए दूसरे का मुँह नहीं ताकना है। अपने अधिकारों के लिए; अधिकारों की रक्षा के लिए उसे किसी दूसरे के कर्तव्यों की आशा नहीं करनी है। कारण यह है कि जिसके प्रति माता-पिता अधिकार जताना चाहते हैं वे इतने अबोध हैं कि उनसे कर्तव्य की आशा रखना तो दूर रहा उनमें इस प्रकार की भावना का होना भी असम्भव है। नवजात शिशु से कर्तव्य की क्या आशा की जा सकती है और उसके अधिकार चाहे जो कुछ हों वह उनकी माँग भी नहीं कर सकता। सम्भवतः अपनी इसी उदारता के कारण उसे कर्तव्यों से वञ्चित रक्खा गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा 'अधिकार' और 'कर्तव्य' राजनीतिक अधिकारों एवं कर्तव्यों से बिल्कुल ही भिन्न हैं। अपने इन्हीं अधिकारों एवं कर्तव्यों के प्रति हम उदासीन हैं, इसलिए हमें जीना और जीने देना नहीं आता। जीने और जीने देने के लिए हमें अपनी उदासीनता से दूर रहना पड़ेगा। उसका परित्याग करना पड़ेगा, यद्यपि उदासीनता से उदासीन होना सरल नहीं। यह एक रोग है—एक ऐसा रोग जो संक्रामक ही नहीं वरन् अदृश्य व्यापक है—पितामह, पिता पुत्र पौत्र, प्रपौत्र आदि की अनेकों सीढ़ियाँ पार भी। यह एक बार घर कर लेने पर नहीं छोड़ता। हमारे पिता के प्रति पितामह की उदासीनता की [illegible]-शिराएँ—इतनी बारीक कि 'दूरदर्शक यंत्र' भी न देख सकें, [illegible] प्रपौत्र में स्वभावतः पहुँच जावेगी और वह अपने पुत्र तथा उसका पुत्र अपने पुत्र के प्रति उदासीन रहेगा। [illegible] इसे स्पष्ट स्वीकार नहीं करेंगे [illegible] यह कठोर सत्य है जिस पर पर्दा नहीं डाला जा सकता।

यदि हम अपने चारों ओर देखें तो [illegible] [illegible] निर्बलता का शिकार बन कर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] से हम अपनी उदासीनता नहीं [illegible] [illegible] [illegible]
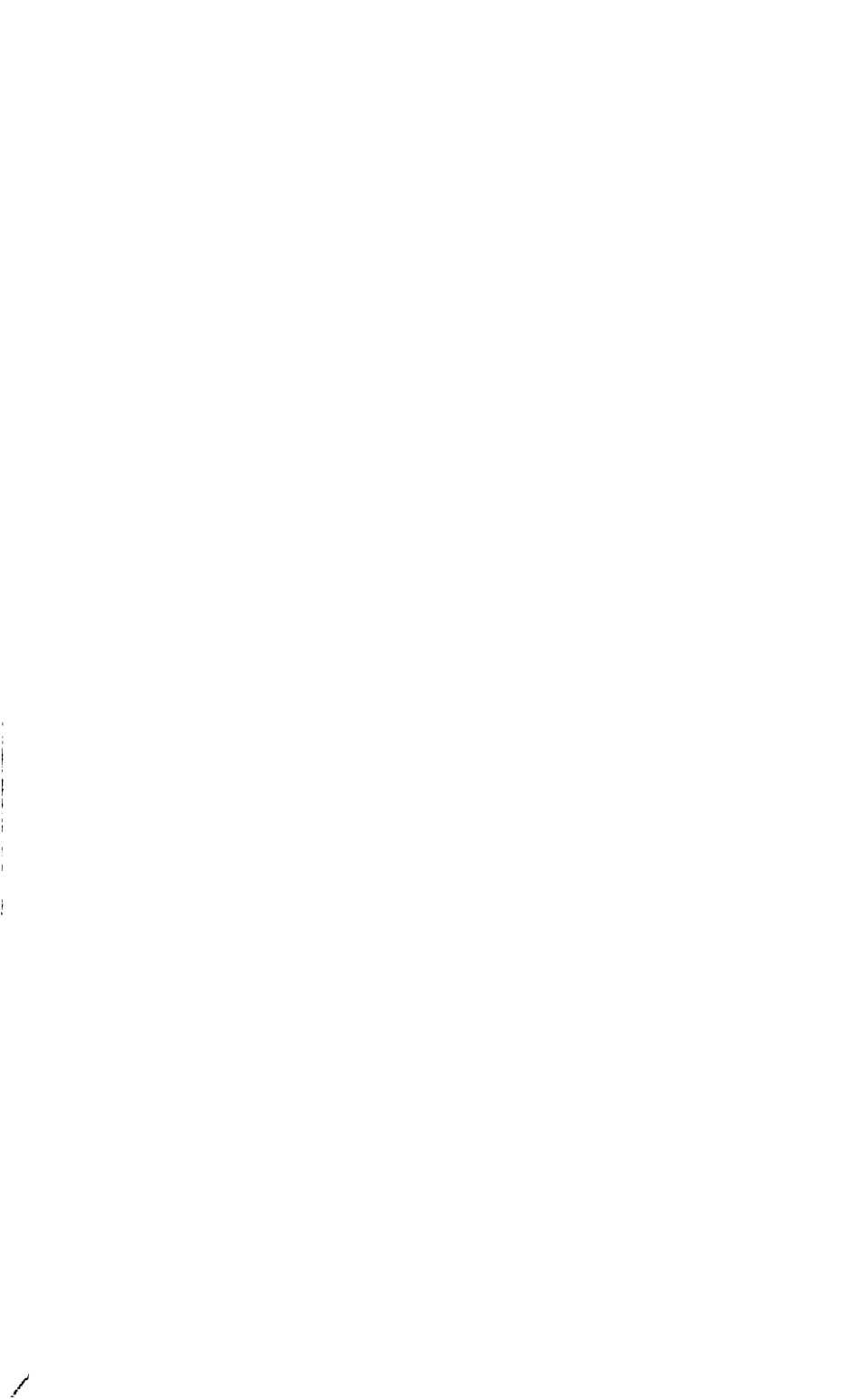
अस्तित्व या उनकी महत्ता न जानने वाले तो उनके प्रति उतने उदासीन नहीं होते जितना कि यह सब कुछ जानने वाले होते हैं। इसका एक मात्र कारण प्रतिक्रिया है। अपनी प्रभुता का आरोप किसी पर करना यह हम नहीं छोड़ पाते और अपनी इस प्रवृत्ति का सफल प्रयोग केवल अपने बच्चे पर ही हम कर पाते हैं क्योंकि वे दुर्बल हैं आश्रित हैं।

अगले परिच्छेद में बालक के महत्त्व के विषय में बतलाया जायगा पर जैसा कि अभी कहा गया है हम बालकों का महत्त्व जानकर भी उनके प्रति उदासीन हैं।

राष्ट्र का निजस्व समझा जाता था। स्पार्टा मे यह प्रवृत्ति अपने पूर्ण विकसित रूप मे थी। भारतवर्ष बालको के भविष्य सुधारने मे, उन्हे राष्ट्र का उत्तम नागरिक बनाने मे, जीवन-सग्राम मे सफल सैनिक निर्माण करने मे, सदा से कटिबद्ध रहा है। वह बालको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे नहीं है। वह बालक को अपने देश का उत्तम नागरिक बनाने के साथ उसे विश्व का उपयोगी तथा उपादेय पूर्ण मानव बनाने के पक्ष मे है। विश्वैक्य कल्पना आज अपने सुदृढ़ रूप में ससार के समक्ष उपस्थित हो रही है। यह भव्य भावना 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भव्य भावना से प्रेरित है। भारतवर्ष मे शिशु के गर्भस्थ होते ही शिशु-शिक्षण का कार्य आरम्भ हो जाने की परम्परा रही है। यहाँ प्राचीन काल में बालक की देख रेख की व्यवस्था जितनी सुचारु रूप से हो रही थी उतनी देख-रेख अन्य देशों मे नितान्त दुर्लभ है। आज उसी देश मे बालक की सर्वाधिक उपेक्षा हो रही है। भारतीय सस्कृति आध्यात्मिकता पर आश्रित होते हुए भी भौतिक कल्याण की कभी उपेक्षा नहीं करती।

नाओं के बीज हैं। यह बीज समय पाकर अंकुरित तथा पल्लवित होते हैं। विश्व संप्राप्ति के लिए बालक की उपासना आवश्यक है। मानवजाति अपने बालकों की रक्षा द्वारा विश्व की प्राप्ति का विधान रचती है। मानव की अखंड परम्परा में एक-एक पीढी एक-एक कडी है। मानव के समस्त ज्ञान, विज्ञान और कर्म प्रत्येक पीढी को नवीन रूप में धारण करना पड़ता है। बालक मानव जाति का गौरवमय अतीत, आशामय वर्तमान और भविष्य है। उसकी शक्तियाँ अकुंठित हैं। उसके ज्ञान और कर्म की इति नहीं। जो पूर्वजों ने नहीं किया वह आने वाले करेंगे यही मानव की सत्यात्मक विशुद्ध निष्ठा होनी चाहिये। महाकाल के साथ मिलकर जीवित रहने का यही दृष्टिकोण है। काल का जो जीर्ण भाग जराग्रस्त है, जो पुरातन है, जो बीता, जो समाप्त हो गया या अन्य शब्दों में मृत है उसे आगे आनेवाले पुत्र ही नवजीवन का वरदान देंगे। यह विश्वास कि पहली पीढियाँ अपने साथ सारी बुद्धि का चमत्कार ले गईं, आत्मघात है।

संसार के अपार विस्तार में बालक प्राण का व्यक्त केन्द्र है। वैज्ञानिक की भाषा अजन्तुक युग के प्रलयात्मक विस्तार में अव्यक्त प्रतिस्पन्द

बालक के राष्ट्रीय मूल्य को भलीभाँति समझ लिया है। वे अनुभव करने लगे हैं कि जिस राष्ट्र के बालक निर्बल, अशिक्षित और चरित्रहीन हैं वह अवश्य ही परतन्त्र रहेगा। अतः वे हर सम्भव उपायो से अपने भावि नागरिकों को शारीरिक तथा मानसिक रूप मे बलवान बनाते हैं।

जिन संस्कारों से युक्त होकर, जिन विचारो और भावो को ग्रहण कर बालक पूर्ण रूप से खड़ा होगा उस पर मानव उन्नति या अवनति निर्भर करेगी इस आयु मे संस्कार ग्रहण करने की शक्ति अत्यधिक मात्रा में होती है। एक बार इस कोमल संस्कार सुलभ अवस्था में उसने अपने अन्त.करण को बनाया तो फिर उत्तरायुष्य में लाख चेष्टा करने पर भी उनसे छुटकारा पाना या उनमे परिवर्तन करना सम्भव नहीं है। जिन संस्कारों से व्यक्तित्व का निर्माण होता है उसके दो भाग होते हैं। प्रथम आनुवंशिक संस्कार कहलाता है जो वंश परम्परागत उसे प्राप्त होता है। द्वितीय व्यक्तिगत जीवन का संस्कार है।

बालक का विश्व में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है यह उपर्युक्त पंक्तियों में थोड़ा-बहुत भासित किया गया है। किंतु इस मंगलमय महामानव की हम उपेक्षा कर रहे हैं। यह हमारे आने वाले भविष्य का दुर्भाग्य है। प्रत्येक क्षेत्र में पग-पग पर बालक की उपेक्षा ही नहीं वरन् उसके प्रति निर्ममता का व्यवहार किया जाता है। आगामी परिच्छेदों में इसी निर्ममता, उपेक्षा पर विचार किया जायगा और साथ ही इस समस्या के कतिपय हल उपस्थित करने का प्रयास किया जायगा। इस समस्या के मूलभूत कारण और उनका हल ही हमारा एकमात्र लक्ष्य है। यह ध्रुव सत्य है कि विश्वव्यापक दुर्व्यवस्था, अशान्ति तथा घृणा द्वेष का एकमात्र कारण बालक की उपेक्षा ही है। यह सत्य वैज्ञानिक अन्वेषण की कसौटी पर भी खरा ही उतरता है। यह हमारी सभ्यता तथा संस्कृति के लिए अभिशाप है। यह सत्य है कि इतिहास मनुष्य की गल्तियों की कहानी है किंतु उससे अधिक सत्य यह है कि उन गल्तियों पर मनुष्य की विजयगाथा भी इतिहास ही है। इस सनातन सत्य के निरूपण के लिए हमें आत्म-शोध करना होगा। हमारा आत्मशोधन ही निजी तथा जन साधारण की समस्याओं का एकमात्र हल है।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर से पूछा गया कि "जिस देश मे भगवान के बालगोपाल रूप की पूजा होती हो, वहाँ बच्चों की देख-भाल तथा पालन-पोषण की समुचित व्यवस्था तो होगी ही।" गुरुदेव ने दुखी होकर उत्तर दिया, "दुर्भाग्य से हमारे देश मे बालक तथा स्त्री दोनो ही उपेक्षित हैं।" विश्वगत व्यवस्था के सचालन एव विकास मे बालक का भी मुख्य तथा सबल हाथ है। बालक शक्तिमान कार्यकर्ता है, जो मानव की सपूर्ण सृष्टि सस्कृति और सभ्यता को आत्मसात करके अपने मे मूर्त करने और इस प्रकार उन्नति के मार्ग की गौरवमयी परम्परा को चलाने की अनन्त पावन शक्तियो से सम्पन्न होकर जन्म लेता है। आज मनुष्य को मानव प्रयोग-शालाओं की आवश्यकता है जिनका उद्देश्य एक ऐसे ससार की सृष्टि करना है जिसमें सस्कृति और सभ्यता का सर्वोत्तम रूप देखने को मिले और जो शिशु के विकास की नैसर्गिक आवश्यकताओ, सतुलन और निश्चित कार्यक्रम की पूर्ति में उपयुक्त रीति से सहायक बनें। मनुष्य को उदात्त भावना के साथ-साथ अन्वेषक की विवेक बुद्धि को लेकर बालक की सेवा मे प्रस्तुत होना पड़ेगा। इसी क्रिया से वह अपने मूलभूत शिशु के प्रति अपनी चेतनाहीन और आवेगजन्य प्रवृत्ति से ऊपर उठ सकेगा। शिशु के प्रति आत्म सयमयुक्त उदात्त भावना को लेकर मनुष्य को आगे बढ़ना होगा। वयस्क व्यक्ति यदि सस्कृति और सभ्यता का निर्माता है तो बालक मानव व्यक्तित्व का बनाने वाला है। वह बड़ों की अपेक्षा अधिक ठोस कार्यकर्ता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम उसके लिए सभी साधनो तथा वातावरण की अनुकूल सृष्टि उपस्थित करना अपना कर्तव्य समझें। मानवता के जनक बालक की बिना पहचान और सहायता किये मनुष्य व्यर्थ ही अपनी आत्मा की खोज मे लगा है। बालक सभ्यता और सस्कृति को आत्मसात् करके मानव के व्यक्तित्व का निर्माण करता है। मानवता को व्यापक विनाश से बचाने के लिए, विश्वगत व्यवस्था मे बालक का जो हाथ है उसे समझकर उसमें बालक की सहायता करना आवश्यक है।

बालक का विश्व में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है यह उपर्युक्त पंक्तियों में थोड़ा-बहुत भासित किया गया है। किंतु इस मंगलमय महामानव की हम उपेक्षा कर रहे हैं। यह हमारे आने वाले भविष्य का दुर्भाग्य है। प्रत्येक क्षेत्र में पग-पग पर बालक की उपेक्षा ही नहीं वरन् उसके प्रति निर्ममता का व्यवहार किया जाता है। आगामी परिच्छेदों में इसी निर्ममता, उपेक्षा पर विचार किया जायगा और साथ ही इस समस्या के कतिपय हल उपस्थित करने का प्रयास किया जायगा। इस समस्या के मूलभूत कारण और उनका हल ही हमारा एकमात्र लक्ष्य है। यह ध्रुव सत्य है कि विश्वव्यापक दुर्व्यवस्था, अशान्ति तथा घृणा द्वेष का एकमात्र कारण बालक की उपेक्षा ही है। यह सत्य वैज्ञानिक अन्वेषण की कसौटी पर भी खरा ही उतरता है। यह हमारी सभ्यता तथा संस्कृति के लिए अभिशाप है। यह सत्य है कि इतिहास मनुष्य की गल्तियों की कहानी है किंतु उससे अधिक सत्य यह है कि उन गल्तियों पर मनुष्य की विजयगाथा भी इतिहास ही है। इस सनातन सत्य के निरूपण के लिए हमें आत्म-शोध करना होगा। हमारा आत्मशोधन ही निजी तथा जन साधारण की समस्याओं का एकमात्र हल है।

निर्ममता क्या है ?

बालक के प्रति निर्ममता पर विचार करने के पूर्व हमारे समक्ष निर्ममता शब्द की स्पष्ट रूप-रेखा का होना अति आवश्यक है। निर्ममता के वास्तविक अर्थ क्या होते हैं इसका ज्ञान अनिवार्य है अन्यथा विषयान्तर हो जाने का भय है। किसी भी व्यक्ति का वह कार्य जो अन्य व्यक्ति को शारीरिक अथवा मानसिक चोट पहुँचाता है वही निर्ममता की कोटि में आता है। यदि हम अपने उपवन में बढ़ते हुए अनावश्यक घास-पात को समाप्त करना चाहते हैं तो हमें उस क्षेत्र के उन मौलिक कारणों को समाप्त करना होगा जिससे कि यह घास-पात एकत्र होते हैं। बस इसी दृष्टिकोण को सामने रखते हुए हमें निर्ममता की समस्या को हल करना होगा।

निर्ममता मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। आप इस कथन की सत्यता से भले ही सहमत न हों किंतु यह एक कटु तथा दुर्भाग्यपूर्ण सत्य है। यदि आप अपने प्रति ईमानदार हैं तो आप निश्चित रूप से यह स्वीकार करेंगे कि आप भी इस प्रवृत्ति से परे नहीं हैं। संभव है हम अपनी निर्ममता बच्चों के प्रति खुले रूप में प्रदर्शित न करते हों क्योंकि हमने इस प्रवृत्ति को नियन्त्रित कर लिया है किंतु मूलतः मनुष्य की यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। निर्ममता तथा स्वार्थपरता उससे पूर्णरूपेण अलग नहीं की जा सकती। हम इस प्रवृत्ति को पशु प्रवृत्ति कह सकते हैं। मनुष्य दैवी तथा पाशविक प्रवृत्तियों का मिश्रण है। अधिकांशतः मानवी प्रवृत्तियाँ पाशविक हैं। गत १०० वर्षों में जो कुछ शोध कार्य इस क्षेत्र में हुआ है उसके आधार पर इस कथन की और भी पुष्टि होती है। आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन यह सभी गुण मनुष्य तथा पशु में समान हैं। किंतु मनुष्य की विशेषता उसकी मननशीलता है। निर्ममता मानवी प्रवृत्ति ही है, भले

ही आप उसे अशिक्षित, अविकसित तथा अपरिमार्जित मनुष्य की प्रवृत्ति मानें। मनुष्य की आक्रामक प्रवृत्ति उसकी निर्ममता के लिए उत्तरदायी है। आक्रामक प्रवृत्ति इस शताब्दी में अपना राजनीतिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व रखती है किन्तु इस विषय पर विचार करते समय हमें इस शब्द के इस महत्त्व को विस्मृत कर देना होगा। आक्रामक प्रवृत्ति को आप बलप्रयोग भी कह सकते हैं जो कि मनुष्य की मूल इच्छा का अस्तित्व बनाये रखने में निहित है।

प्रसिद्ध दार्शनिक रूसो के कथनानुसार मनुष्य मूलतः अच्छा है किन्तु विचार विमर्श की प्रक्रिया उसे भ्रष्ट कर देती है। मनुष्य अपने को तर्क, बुद्धि तथा विवेक से सुसज्जित होने के कारण सभी प्रकार की बुराइयों से मुक्त तथा सुरक्षित समझता है। मनुष्य जन्म से ही अच्छा या बुरा है यह विचार हमें आगे आने वाली पीढ़ियों के मस्तिष्क से पूर्ण रूपेण हटा देना चाहिये। वह अपने कर्मों से ही अच्छा या बुरा होता है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को उचित शिक्षण तथा प्रशिक्षण से सृजनात्मक दिशा की ओर उन्मुख या प्रवृत्त कर देना ही उनका सर्वोत्तम प्रयोग है। यथार्थ तथा वास्तविकता की भूमि पर खड़े होकर हमें आदर्श के आधार को भी याद रखना होगा। मनुष्य जन्मतः न तो अच्छा है और न बुरा। यदि किसी शिशु को निर्जन स्थान पर छोड़ दिया जाय तो उसका विकास उसकी मान्यताएँ हमारी मान्यताओं से सर्वथा भिन्न होगी।

किसी भी रूढ़ि से बँधकर हम किसी समस्या के उचित हल को नहीं निकाल सकते। जिस क्षण रूढ़िमुक्त होंगे उसी क्षण हमारी सारी सामाजिक तथा वैयक्तिक समस्याएँ स्वत. मानसिक स्वाभाविकता से हल हो जायेंगी। किन्तु इसके लिए आवश्यकता है रूढ़ि-मुक्त विचार विमर्श की। निर्ममता का उदय कब, कहाँ और क्यों होता है इसे समझ लेना भी अति आवश्यक है। जब मनुष्य को सन्तोष और आनन्द नहीं मिलता और जब इसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति असन्तुष्ट होती है तो वह अपने निकटतम मित्र

पर अपनी निर्ममता को व्यक्त करता है, जिसे कदाचित् वह अपना अधिकार समझता है। जब आप स्वय शिथिल और थके होते हैं उस समय आप कुपित होकर अपने बालक को डाटते हैं, यद्यपि उसका कोई भी दोष नहीं है।

यदि हम यह जान सकें कि निर्ममता कितने प्रकार की होती है, सामान्यतः उसका उदय कैसे, क्यों, कब और किस तरह होता है तो उसे समाप्त करने मे हम निश्चित रूप से एक कदम आगे आ जायेंगे। मुख्यतः इस निर्ममता के दो भाग किये जा सकते हैं : (१) प्रत्यक्ष निर्ममता (२) परोक्ष निर्ममता। प्रत्यक्ष निर्ममता के अन्तर्गत शारीरिक दण्ड देना तथा मानसिक चोट पहुँचाना भी आता है। परोक्ष निर्ममता के अन्तर्गत शारीरिक तथा आध्यात्मिक उपेक्षा आती है। आध्यात्मिक उपेक्षा शारीरिक उपेक्षा से अधिक हानिप्रद है। परोक्ष निर्ममता मे ऐसे रूप भी हैं जहाँ माता-पिता अपनी दृष्टि मे अत्यधिक अच्छा व्यवहार करते हुए भी शिशु के साथ अनजाने मे निकृष्ट निर्ममता कर जाते हैं जिसकी शिशु के भावनात्मक विकास मे तनिक भी आवश्यकता न थी।

प्रत्यक्ष निर्ममता के दो भाग किये जा सकते हैं। पहला प्रत्यक्ष क्रूर निर्ममता जिसके अन्तर्गत शारीरिक दड आदि आते हैं दूसरा मानसिक निर्ममता जिसमे माता-पिता अपने दुर्भाग्य को कोसते समय नन्हे शिशु का ध्यान नही रखते जिसका प्रथम परिणाम शिशु पर ही पड़ता है। परोक्ष निर्ममता मे शिशु या तो माता द्वारा या पिता द्वारा या दोनो द्वारा अनचाहा होता है या माता-पिता जीवन की प्रवृत्ति के विषय मे अनभिज्ञ होते हैं। यद्यपि वे शिशु को प्यार करते हैं, उसकी सेवा-सुश्रूषा करते हैं किन्तु उसकी भावनात्मक क्षुधा को वे शान्त नही कर पाते। निर्ममता के शिकार बालकों को मुख्यत. हम चार भागो मे विभाजित कर सकते हैं— उपेक्षित, दुर्व्यवहृत, परित्यक्त तथा नियन्त्रण से परे।

शिशु को यथा प्रकृति विकास का अवसर न देना या उसकी बौद्धिक

और शारीरिक शक्तियो का अपने स्वार्थ के लिए उपयोग करना, किसी दूसरे के हित को वहीं तक साध्य रखना जहाँ तक उससे अपने हित का साधन हो इसी का नाम अन्याय या शोषण है। बालक के प्रति किये गये इसी अन्याय और शोषण को निर्ममता की सज्ञा दी जाती है। बालक के प्रति माता-पिता तथा गुरुजन सबसे अधिक निर्मम होते हैं। सुनने मे यह बात कुछ आश्चर्यजनक मालूम होती है, किन्तु है यह सत्य। वे नन्हें-नन्हे शिशु जिन्हें छोटी अवस्था मे पैसा कमाने मे लगा दिया जाता है शोषण के जबडों मे पिसते हैं। शिशु अपने समवयस्कों को अच्छा खाना खाते, अच्छा कपडा पहनते या गुडियो से खेलते हुए देखता है तो जी मसोस कर रह जाता है। मुँह खोलता है तो डॉट पडती है, पिटता है। शिशु क्या है नैराश्य की जाती-जागती प्रतिमा है। वह समाज की नींव में एक विद्रोह का धधकता हुआ अङ्गारा है।

बहुधा बच्चो के माँ-बाप निष्ठुर नहीं होते। दारिद्र्य उन्हे अपने शिशुओं का गला घोंटने पर मजबूर करता है। वे चुपके से रक्त के ऑंसू पी जाते हैं और हर उखडती सॉस से समाज को कोसते हैं। वस्तुत. दोष भी समाज का है। जो समाज इस आधारभूत तथ्य को स्वीकार नहीं करता कि हर बालक को खाने-खेलने का, अपनी योग्यता को अनुकूल दिशा में विकसित करने का सहज अधिकार है वह समाज जीवित रहने का दावा नहीं कर सकता। उसे अपने अस्तित्व को बनाये रखने का किंचित अधिकार नहीं है।

शैशवावस्था मे बालक घर का खिलौना होता है, उससे अश्लील बाते कहलाकर लोग खुश होते हैं; किन्तु कदाचित् उन्हे नहीं मालूम कि अनजाने मे भी इसका भयकर परिणाम बालक के चरित्र पर पड़ता है। इससे बालक मे चाटुकारिता, दम्भ और कपट का अकुर फूटने लगता है और उसका जीवन दूषित हो जाता है। चार-पॉच वर्ष के शिशु की स्थिति पशुत्व और मनुष्यत्व के बीच की होती है। वह प्रौढ की नैतिकता समझने मे असमर्थ

है। उस पर नैतिकता लादकर उसे अनैतिकता का पाठ पहले अपने माता-पिता तथा गुरुजन द्वारा ही सीखना पड़ता है। वह नये-नये शब्द सीखता है। उन शब्दों को भिन्न-भिन्न रूप में विन्यस्त करके बोलता है। सत्य और झूठ का अन्तर भी वह पहले अपने गुरुजनों द्वारा ही सीखता है। अन्यथा उसकी कोमल कल्पना में मिथ्या का कोई अस्तित्व ही नहीं होता। प्रकृति उसे व्यापक सहानुभूति का पाठ पढ़ाती है किन्तु समाज इस भावना को सकुचित तथा नियन्त्रित करता है। एकता में अनेकता उसे सीखना पड़ता है। जहाँ तक शिशु इस कृत्रिमता के विरुद्ध तथा अपने व्यक्तित्व को दबाये जाने के विरुद्ध विद्रोह करता है वहाँ तक वह दण्डित होता है। समवेदना के व्यापक, विश्वव्यापी क्षेत्र को समाज सहन नहीं कर पाता।

एक ओर शिशु से प्रौढ़ जैसे कृत्रिम आचरण की आशा की जाती है और दूसरी ओर उसे निरा नासमझ मान बैठते हैं तथा उसके समक्ष सभी प्रकार के उचित तथा अनुचित कार्य करते हैं। इसका दुष्परिणाम बालक के भावी जीवन पर अवश्य पड़ता है। वह अपनी बुद्धि के अनुसार बड़ों के सभी कार्यों का उल्टा-सीधा अर्थ लगा लेता है। अप्रत्यक्ष रूप से उसका भावी जीवन दूषित करके उसके साथ निर्ममता वर्ती जाती है। शिशु पर बड़ो के आचरणों, मुद्राओं, भ्रूभगियो, कलह और राग-द्वेष का अमिट प्रभाव पडता है। उसकी सहज प्रवृतियों को अकारण दबाने से उसमें जो क्रोध और विद्रोह की ज्वाला भड़कती है वह कभी भी शान्त नहीं होती। वह लुक-छिप कर बडों की गतिविधि देखता है और सामने भोलेपन का अभिनय करता है। यह अदूरदर्शिता उनके जीवन-स्रोत को कलुषित कर देती है।

सत्य तो यह है कि हम पितृत्व और मातृत्व के अर्थ और उसके दायित्व को ही नहीं समझ पाये हैं। विवाह यौन सबन्ध को वैध बनाने का साधन मात्र नहीं है वह पवित्र सस्कार है। उसके द्वारा स्त्री-पुरुष पति-पत्नी ही

नहीं वरन् सहधर्मा भी बनते हैं। प्रजनन-तन्तु का व्यवच्छेद मत करो सन्तान उत्पन्न करो। यह उपदेश केवल इसलिए न था कि राष्ट्र को लड़ने के लिए सिपाही या मिल को कोयला झोंकने के लिए श्रमिक मिलते रहें। उद्देश्य यह है कि ज्ञान की अखण्ड, अजस्र, अनाहत, अबाधित धारा निरन्तर आगे बढ़ती जाय।

बालकों को संपत्ति न समझ कर थाती समझना चाहिये तभी हम उनके साथ न्याय कर सकेंगे। शिशु के उदात्त भावों को जगाना उसे कृत्रिम समाजगत भेद-भावों से ऊपर उठाना और उसमें सार्वभौम सहानुभूति को पल्लवित करना ही न्याय और सत शिक्षा है।

'मानव के जनक' बालक का कदम-कदम पर घोर अपमान, उपेक्षा और तिरस्कार होता है। घर, पाठशालाओं, समाज और राज्य हर क्षेत्र में उसका तिरस्कार होता है। वह हर जगह कुछ अवाञ्छनीय कुछ भार-सा प्रतीत होता है। अच्छी फसल के लिए बीज की सार-सँभाल का कुछ महत्त्व भी है, किन्तु भावी जगत के निर्माता की हम कोई चिन्ता नहीं करते।

अनेक परिवारों में बालक को आमन्त्रित तो कर दिया जाता है पर उसके स्वागत सत्कार की यथेष्ट तैयारी नहीं होती। कितने माता-पिता हैं जो इस विषय में दोषी नहीं होते? कितने माता-पिता अपने आहार व्यवहार, चरित्र, वाणी और आचरण पर बालक के हित की दृष्टि से समुचित संयम रखते हैं। गरीबों को अपना ही निर्वाह नहीं करते बनता फिर वे बालक का अतिथि सत्कार क्या करें। धनवानों को अपने ऐश्वर्य, भोग विलासों से अवकाश नहीं मिलता। वे धाय के ऊपर बालक के पालन-पोषण का भार छोड़ कर इस कर्तव्य-भार से मुक्ति पाते हैं। माता-पिता की इच्छा है कि बालक सदैव उनकी इच्छानुसार चले। वह जो कुछ जितनी मात्रा में जब खिलाना चाहें वह उसी समय उतनी ही मात्रा में वही वस्तु खाय अन्यथा मुँह बाँधे रहे। माँ चाहती है बालक सो जाय बालक को नींद नहीं आती तो उसे माँ के कोप का भाजन बनना पड़ता

है। बालक को अफीम खिलाकर सुलाने में माताएँ अपना कौशल समझती हैं। बालक के हाथ से यदि कोई कीमती वस्तु टूट-फूट जाती है तो वह माता-पिता की हिंसात्मक प्रवृत्ति का शिकार होता है। बालक की मनोभूमि में क्रोध, हिंसा तथा झूठ का बीजारोपण माता-पिता ही करते हैं जो आगे चलकर भयानक विषवृक्ष के रूप में प्रकट होता है। प्रत्यक्ष या परोक्ष में इस अपराध का उत्तरदायित्व माता-पिता पर ही है। वे वाणी अथवा अपने व्यवहार से उसका मानस विषाक्त एवं दूषित बना देते हैं। बालक तो मूलतः निष्कपट तथा सत्यवान होता है।

प्रारम्भिक क्रोध, हिंसा तथा असत्य की शिक्षा बालक को माता-पिता के पावन अंक में मिल जाती है। इस कार्य को पाठशाला में अध्यापक दो पग और आगे बढ़ा देता है। बालक को क्षण-क्षण में डराना, धमकाना, मारना तथा पीटना उसे झूठ बोलने पर मजबूर करना है। कक्षा में श्मशान का अनुशासन जमाकर प्रधानाध्यापक द्वारा वाहवाही लूटने के लोभी अध्यापक बालकों से पशुवत् व्यवहार करते हैं। ये अध्यापक बालक को मानवता से दूर रखने में कितने सहायक होते हैं!

समाज में हमें अपने बड़ों का आदर-सत्कार करना सिखाया जाता है। अपने स्वार्थसिद्धि के लिए हम ऐसों के समक्ष भी माथा टेकते हैं जो इसके योग्य नहीं होते। किन्तु बालक से 'तू, अबे-तबे' बात करना हम अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते हैं। दूसरों के लिए श्रीमान्, महाशय, महोदय, महानुभाव आदि सम्मानसूचक शब्दों का हम उपयोग करते हैं किन्तु बालक के लिए सम्मानसूचक शब्दों का अकाल पड़ जाता है। कितने स्थानों पर हम बालक को आप कह कर संबोधित करते हैं, ऐसा प्रतीत होता है मानो हमारा सारा शिष्टाचार, कृत्रिम, अस्वाभाविक, स्वार्थी तथा मिथ्या है। हमारे शिष्टाचार की कसौटी तो यही है कि हम अपने छोटों से कैसा व्यवहार करते हैं।

मनुष्य का सर्वाधिक विकसित समाज राज्य है। राज्य के विधान में

उनके अधिकारों की बात होती है। जो कोई किसी के अधिकारों पर आघात पहुँचाता है उसे दण्डित किया जाता है, किन्तु वहाँ भी बालक उपेक्षित है। कौन सा सभ्य तथा सुसंस्कृत राज्य है जिसने बालक के अधिकारों की घोषणा की हो? कौन सा राज्य है जिसने उनके अधिकारों की रक्षा की व्यवस्था की हो? मानव-सृष्टि में बालक एक अधिकारहीन प्राणी है, उससे मीठा बोलना, उसके साथ सद्व्यवहार करना एक दया और उदारता का कार्य समझा जाता है। ऐसा करके उसके साथ उपकार किया जाता है। उसका ऐसा कोई भी अधिकार कानून द्वारा मान्य नहीं है।

हमारे देश में बाल-मृत्यु की संख्या अन्य देशों की अपेक्षा अधिक है. इस असामयिक मृत्यु के कतिपय प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) बाल-विवाह,

(२) छोटी अवस्था में गर्भाधान,

(३) प्रसव की दूषित रीति,

(४) प्रसूति गृहों के दोष,

(५) माता-पिता का असंयमपूर्ण जीवन,

(६) माता-पिता में गर्भाधान तथा बाल-पोषण के ज्ञान का अभाव

(७) दरिद्रता और

(८) शुद्ध पौष्टिक खाद्य द्रव्य का अभाव

भारतवर्ष की ३६ करोड़ जनसंख्या में १५ वर्ष की आयु के १४ करोड़ बालक हैं इनमें १ वर्ष के अन्दर के शिशु हैं, २ करोड़ ४५,००.०००० एक वर्ष से पाँच वर्ष के बीच के हैं, ८५०.००.००० बालक ५ से १५ वर्ष तक के हैं।

सन् १९४६ में भारतवर्ष तथा अन्य प्रमुख देशों में प्रतिसहस्र जन-संख्या में शिशु-जन्म का अनुपात इस प्रकार था।

भारतवर्ष २६ ४ प्रतिसहस्र

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका २४.० .

जापान	३३ २	प्रति सहस्र
इगलैण्ड तथा वेल्स	१६ ७	,,
स्विटजरलैण्ड	१८ ४	,,
इटली	२०.०	,,

सन् १९४९ मे भारतवर्ष मे एक वर्ष तक के ८,३०,२७० शिशुओं की मृत्यु हुई थी। एक से पॉच वर्ष तक के शिशुओ की मृत्यु-सख्या ६,९३,६१६ थी। शिशु-मरण प्रतिसहस्र जीवित प्रसूत शिशुओ पर १२२८ था। अमेरिका, जापान, इगलैण्ड, स्विटजरलैण्ड, इटली में यह मान क्रमशः ३१, ६२, ३२, ३४ तथा ७४ है।

उपरोक्त तालिका से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कितने बालक समाज की असावधानी से अकाल ही काल के ग्रास बन जाते हैं।

परिवार मे उसे प्रतिक्षण कोसा जाता है जैसे :— दुष्ट, ढीठ, पागल, उल्लू, अयोग्य, नालायक, आदि सम्मानित सबोधनों से उसे याद किया जाता है। 'तू मर जाता तो अच्छा होता' इस प्रकार की शुभकामनाएँ उसके प्रति प्रकट की जाती हैं। बालक के स्वास्थ्य, चरित्र-निर्माण, रुचि तथा व्यक्तित्व की कोई भी परवाह नही की जाती। फलतः वह अल्पायु, निर्बल, रोगी, कुरूप, दीन तथा दुखी बना रहता है। पाठशाला में मूर्ख, गधा, नालायक, बुद्धू आदि संबोधनो से उसका सम्मान किया जाता है। समय-समय पर बेत से विधिवत् उसकी पूजा भी की जाती है। क्या यह व्यवहार उसके आत्मविश्वास, आत्मसम्मान, आत्मनिर्णय तथा आत्मनिरीक्षण के विकास मे सहायक हो सकता है? कदापि नही। इन अमानवीय व्यवहारो से सद्प्रवृत्ति का पोषण तो दूर रहा प्रत्युत बाल-मानव मे समाज-घातक प्रतिक्रिया होती है। उसमे क्रोध, निन्दा, अविनय, तुच्छता तथा अनुशासनहीनता अपना सिर उठाने लगती है। इन व्यवहारो मे जीवन सस्थापक तत्व नहीं पाये जाते। यही बालक आगे चल कर मानवता के

लिए अभिशाप बन जाते हैं। वे समाज में विलासी, उच्छृङ्खल, उद्दण्ड, अकर्मण्य, परमुखापेक्षी तथा अव्यावहारिक बन कर जीवन काटते हैं।

बालक की मानसिक मांगों की पूर्ति आवश्यक है। उसके विकास श्रेणियो के सम्बन्ध मे सम्मान-वृत्ति अपेक्षित है। बालक के व्यक्तित्व का आदर करना एक मनोवैज्ञानिक शिक्षण की बात है। उसके साथ आयु सम्मत मनोवैज्ञानिक दृष्टि अनिवार्य है। प्रौढ़ जीवन मे देखी जाने वाली ईर्ष्या, घृणा, द्वेष आदि की अग्नि बाल-जीवन मे दमन की हुई इच्छाओं और प्रवृत्तियो की चिनगारियों का प्रज्ज्वलित रूप है। प्रस्तुत परिच्छेद मे निर्ममता क्या है, तथा बालक के प्रति बर्ता जाने वाली निर्ममता की ओर सकेत किया गया है। आगामी परिच्छेदो मे इस निर्ममता के विभिन्न क्षेत्रो, कारणो और उनके उन्मूलन के उपायो पर विचार किया जायगा।

शिशु सम्बन्धी ज्ञान, उसकी आवश्यकता और अनभिज्ञता

बालक के विषय में हमारा ज्ञान कितना परिमित है इस विषय मे जानने का हमने तनिक भी प्रयास नहीं किया। हमारा साधारणतः यह विचार रहता है कि हम सभी एक समय बालक थे हमे अपने अनुभव याद ही हैं। अतः और कुछ जानने की क्या आवश्यकता है। हमे अन्य कार्यों से अवकाश ही नहीं मिलता कि हम उसके कार्यों का निरीक्षण करें। सच तो यह है कि हम उसे तुच्छ समझते हैं। उसे कोई महत्त्व नहीं देते, अन्यथा अवकाश न मिलना यह कथन एक बहाना मात्र है। कदाचित् यह स्वीकार करने मे हमे सकोच होता है कि हम अपनी बाल्यावस्था के सारे अनुभव विस्मृत कर चुके हैं और जो कुछ हमें स्मरण है भी वह धूमिल-सा बहुत परिवर्तित रूप में है। हम बालक के कार्य-कलापों को बालक की दृष्टि से नही, प्रत्युत प्रौढ दृष्टि से देखते हैं। बालक के छोटे-छोटे कार्यों मे उसका महत्त्व है।

शिशु हर नयी वस्तु को पकडने की चेष्टाएँ करता है। हम उसके हाथ से सभी चीजे छुड़ाने का प्रयत्न करते हैं। शिशु के हाथ मे जब भी कोई वस्तु आती है तो वह उसे तोडने, पटकने तथा मसलने की कोशिश करता है। उसे रोककर हम कितनी बडी भूल करते हैं इसे बाल-मनोवेत्ता भली-भाँति समझ सकते हैं। बालक का बाह्य जगत का ज्ञान उसकी अनेक प्रकार की क्रियाओ से ही बढता है। सवेदना तथा स्पर्श ज्ञान की भित्ति पर ही मनुष्य का ज्ञान आधारित है। स्पर्श ज्ञान हमारी अनेकानेक शारीरिक क्रियाओं पर स्थित है। बालक अपनी चचलता के द्वारा ससार के बारे मे अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करता है।

दमन के दुष्परिणामों से अधिकांशतः हम अनभिज्ञ हैं। जब हम शिशु की चञ्चलता को डाँट डपटकर रोक-थाम करने की चेष्टा करते हैं तो उसके मन में क्रमशः एक अज्ञात भय पैठता जाता है। इस प्रकार उसकी स्वाभाविक क्रियात्मक वृत्तियाँ अवरुद्ध हो जाती हैं। यह भय उसके मन में एक ग्रन्थि डाल देता है। फलतः वह आगे बढ़कर संकोची स्वभाव का हो जाता है। उसका संकोच कायरता की सीमा तक पहुँच जाता है। शिशु अपनी अनेक महत्त्वाकांक्षाएँ आगे चलकर पूरी नहीं कर पाता। वह बुद्धि-हीन, उत्साहहीन, अकर्मण्य तथा परमुखापेक्षी बन जाता है।

अन्य पाश्चात्य तथा प्राच्य सभ्य देशों की अपेक्षा हमारे यहाँ बालक अधिक उपेक्षित हैं। किसी भी व्यक्ति के उत्कर्ष की नींव उसके शैशव में ही है। अन्य देशों में किस प्रकार शिशु का पालन-पोषण, शिक्षण होता है, हम भारतीयों को इसका किञ्चित ज्ञान नहीं है। शिशु के समक्ष अनेक रंग-बिरंगी चीजें वे टाँग देते हैं ताकि शिशु का रंग विषयक ज्ञान बढ़े। उसका स्पर्श-ज्ञान-वर्धन तथा स्नायु पुष्ट करने के लिए नये-नये खिलौनों का आविष्कार किया जाता है। शिक्षा-प्रणाली में नित्य नये शोध हो रहे हैं। इन सबसे अवगत होना हमारा प्रथम कर्तव्य है।

किन्तु मनोविज्ञान के ज्ञान के अभाव मे उचित शिक्षा सभव नहीं है। शिक्षको मे मनोवैज्ञानिक ज्ञान के अभाव के कारण ही पाठशाला मे जाने वाले अबोध शिशु ऐसे हो जाते हैं कि उनके मन मे शिक्षक के प्रति घृणा तथा अनादर की प्रवृत्ति पनपने लगती है। उन वालको मे न तो लोकोपकार की भावना ही रहती है और न योग्यता ही। वालक की अनेक प्रकार की चेष्टाओ, शारीरिक और मानसिक क्रियाओं का अध्ययन होना चाहिये। इसके अभाव मे वालक का चरित्र-गठन सभव नही।

फ्रास के सुप्रसिद्ध दार्शनिक रूसो ने अपनी पुस्तक 'एमील' मे लिखा है कि वालक का मन ही शिक्षक की पाठ्य पुस्तक है। इस पुस्तक को शिक्षक को आद्योपान्त पढ़ना आवश्यक ही नहीं, प्रत्युत अनिवार्य है। इसके अभाव मे शिक्षक अपनी वात वालक के मन मे वैठा नहीं सकता। वालक की स्वाभाविक प्रवृत्ति को जानकर उसके आधार पर ही वालक का ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। वालकों के इद्रिय-ज्ञान, स्पर्श-ज्ञान, कल्पना, स्मृति तथा विचार करने की प्रक्रियाओ का अध्यापक को पूरा ज्ञान होना चाहिये। मानसिक शक्तियो का विकास किस प्रकार किन-किन वातो पर निर्भर करता है, वातावरण और पैतृक सपत्ति का विकास मे क्या योग है, प्रखर, मध्यम तथा मन्दवुद्धि के वालको से कैसा व्यवहार करना चाहिये ; इन सव का ज्ञान आवश्यक है।

कतिपय क्षेत्रो मे वाल-मन को अध्ययन करने की चेष्टाएँ की गई हैं। शिक्षक, चिकित्सक, मनोविज्ञानवेत्ता, माता-पिता तथा चित्तविश्लेपको ने भिन्न-भिन्न दिशाओ मे वाल-मन को अध्ययन करने की चेष्टाएँ की हैं। इस ओर सर्वप्रथम शिक्षको का ध्यान आकर्षित हुआ। क्योकि उन्हे प्रखर तथा मन्द बुद्धि के वालकों के साथ कार्य करने का अवसर मिलता है। असाधारण वालक शिक्षक के लिए एक समस्या वन जाता है। साधारण बुद्धि के वालक को पढ़ाना इतना कठिन नहीं जितना कि मन्द बुद्धि के वालकों को पढ़ाना कठिन कार्य है। उत्पाती वालक भी शिक्षक

के लिए एक समस्या बन जाते हैं। क्योकि उनका उत्पाती मस्तिष्क सदैव किसी न किसी उत्पाती योजना के बनाने मे व्यस्त रहता है। दूसरी ओर पढ़ने वाले लड़के पढ़ते रहते हैं। कुछ बालको को शिक्षक को चिढ़ाने मे, मित्रो को गाली देने और मार-पीट करने मे आनन्द मिलता है। साधारण अध्यापक इनकी बुराइयों के कारण ढूँढ़ने मे असमर्थ होते हैं। किन्तु कतिपय उद्यमी अध्यापको ने इस ओर कार्य करना अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया है। किसी ने मन्द बुद्धि के बालक के विषय मे, तो किसी ने उत्पाती बालक के विषय में अध्ययन तथा खोज की। उनकी ये खोजे भविष्य में अन्य बालकों के अध्ययन करने मे शिक्षकों को सहायता देंगी। बेल्जियम मे सिगमण्ड और इटार्ड तथा इटली में मैडम माण्टेसरी उन व्यक्तियो मे से हैं जिन्होने अपने शोध-कार्यों द्वारा अल्प बुद्धि वाले शिशुओं के विषय मे कतिपय महत्त्वपूर्ण चीजें बतलाईं। इसी प्रकार डाक्टर हामरलेन तथा सीरियल बर्ट ने भी उत्पाती बालकों के विषय मे अनेक महत्त्वपूर्ण चीजो की खोज की जिसके लिए हम आज भी उनके ऋणी एव कृतज्ञ हैं तथा भविष्य मे भी रहेंगे।

शिक्षकों के अतिरिक्त डाक्टरो ने भी इस क्षेत्र मे काफी कार्य किया है। डाक्टर बिने, फ्रायड तथा होमरलेन के नाम इस क्षेत्र मे उल्लेखनीय हैं। चिकित्सकों को बालकों की प्रत्येक बीमारियों से जानकारी होती है। वे रोग के कारण तथा उसके निदान से अवगत रहते हैं। कुछ रोगों का मूल हमारे मन मे रहता है। इन रोगों को जानने के लिए चिकित्सकों को मनुष्य के मन का अध्ययन करना पड़ा। इस अध्ययन से उन्हे अनेक आवश्यक चीजे ज्ञात हुईं। उनके इस अध्ययन से बाल-मन के विषय मे हमारा ज्ञान कुछ और बढ गया। डाक्टर बिने ने मन्द बुद्धि वाले बालकों का अध्ययन किया और बुद्धि-माप प्रणाली का आविष्कार हुआ। आधुनिक काल मे बुद्धि-माप एक उत्तम वैज्ञानिक वस्तु समझा जाता है। बालकों की बुद्धि-माप के द्वारा उनके भविष्य का अनुमान लगाया जा सकता है और

उनके लिए भावी कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया जा सकता है। यूरोप में मन्द बुद्धि तथा अल्प बुद्धि वाले बालकों के लिए विशेष प्रकार के शिक्षालयों का प्रबन्ध है। इनके लिए शिक्षा का क्रम भी विशेष ही रहता है। बुद्धि-माप का विचार डाक्टरों द्वारा आविष्कृत हुआ और आज मनोवैज्ञानिकों ने इसे पूर्णरूपेण अपना लिया है।

डाक्टर फ्रायड तथा डाक्टर युंग और दूसरे लोगों ने उन्माद रोग पर काफी अध्ययन किया। कितने मानसिक रोगों का मूल बाल्यकाल में ही है। अतः इन डाक्टरों ने बाल-मन का अध्ययन किया। डाक्टर फ्रायड एक महान् वैज्ञानिक हो गये हैं। चित्तविश्लेषणों द्वारा कितने ही लोगों के मन का अध्ययन किया गया है। यूरोप की महिलाओं ने इस क्षेत्र में अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया है। बालक की क्रीड़ा-प्रवृत्ति, उसका कुतूहल, उसकी उत्कंठा, जिज्ञासा या उत्सुकता, अनुकरण की प्रवृत्ति, भाषा, ज्ञान आदि विषयों का इन महिलाओं ने बड़ी लगन और परिश्रम से अध्ययन किया। इस विषय में इन लोगों ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन किया।

बालमनोविज्ञान के विकास में उन शिक्षित माता-पिताओं का भी हाथ है जिन्होंने बड़े यत्न से अपनी संतानों के विषय में अनेक विषय नोट करके दैनिकी तैयार की है। वास्तव में शिक्षक, डाक्टर और वैज्ञानिक बालक की भावनाओं और उनकी चेष्टाओं को उतना भली-भाँति नहीं जान सकते जितना कि उसके माता-पिता जान सकते हैं। शिक्षक को मनोवैज्ञानिक की अपेक्षा बाल-मन को अध्ययन करने का अधिक अवसर मिलता है, किन्तु घर में बालक की क्या मनोवृत्ति रहती है इसका ज्ञान रखना शिक्षक के लिए सम्भव नहीं है। बालक माता-पिता के सामने जिस स्वतन्त्रता से अपने को व्यक्त करता है, शिक्षक के समक्ष नहीं कर सकता। अतः उसकी स्वाभाविक क्रियाएँ अवरुद्ध हो जाती हैं। बालक के स्वभाव के विषय में पूरी जानकारी रखना माता-पिता के लिए अपेक्षाकृत

अधिक आसान है। यदि माता-पिता बालक के मन का अध्ययन करें तो अवश्य ही बालक के बारे मे सच्चा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु उनसे इस अध्ययन मे भूल भी हो सकती है। वे अपनी संतान के भावों को निष्पक्ष भाव से नहीं देख पाते। अपने बालक की बुराइयों की ओर साधारणतः माता-पिता की दृष्टि नही जाती। अतः साधारण माता-पिता इस योग्य नहीं हैं कि वे वैज्ञानिक ढंग से बालक के मन का अध्ययन कर सके। यदि माता-पिता को इस विषय मे शिक्षा मिले कि वे बालक के मन का निष्पक्ष अध्ययन कर सके तो वास्तव मे वे बालमनो-विज्ञान की बड़ी सहायता कर सकते हैं। डाक्टर स्टर्न तथा उनकी पत्नी ने अपने दो बालकों के विषय में अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन किया। उन्होंने एक दैनिकी भी तैयार की। इस आधार पर उन्होंने अनेक उपयोगी खोज भी की।

मनोवैज्ञानिक मानसिक क्रियाओं के अध्ययन के लिए प्रायः निम्न-लिखित उपाय काम मे लाते हैं ।

(१) अतर्दर्शन,

(२) निरीक्षण,

(३) प्रयोग,

(४) प्रश्नावली,

(५) दैनिकी,

(६) तुलना और

(७) चित्तविश्लेषण

अन्तर्दर्शन का अर्थ है आत्म निरीक्षण । इसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने अन्दर होने वाले विचारों, संवेगो और अनेक क्रियाओं के ऊपर ध्यान देता है । यह उपकरण प्रौढ मन का अध्ययन करने में अधिक सहायता देता है । फिर भी बाल-मन के अध्ययन मे यह उपकरण थोडी-बहुत सहायता देता है । वास्तव में यह क्रिया प्रौढ़ व्यक्ति को बाल-मन की क्रियाओ और विचारों को व्यक्त करने में अधिक सहायता देती है । अन्तर्दर्शन का अभ्यासी व्यक्ति जब क्रुद्ध होता है तो सवेग का भी अध्ययन करता है । अन्तर्दर्शन की प्रक्रिया में अपने अन्दर एक साक्षी भाव आना चाहिये । इस साक्षी भाव के आये बिना अपनी मानसिक क्रियाओ पर दृष्टिपात करना सम्भव नहीं है । भारत में अन्तर्दर्शन की क्रिया के होने की सम्भावना पर कोई सशय ही नहीं कर सकता क्योंकि यहाँ तो योगाभ्यास की प्रणाली प्रचलित थी । इसके द्वारा चित्तवृत्ति निरोध भी समझाया गया है । अतः चित्तवृत्ति क्या है और उसका निरीक्षण किस प्रकार किया जाता है इसके विषय मे हमें कोई सदेह नहीं, किन्तु पश्चिम मे इस उपकरण के क्रियात्मक रूप पर संदेह प्रकट किया जाता है । सच पूछा जाय तो मनोविज्ञान के अध्ययन मे इस क्रिया पर इतना जोर नहीं दिया जा सकता जितना कि अन्य उपकरणों पर.

किन्तु इसके बिना काम भी नहीं चलता। जिस व्यक्ति को साधारण मनोविज्ञान का ज्ञान नहीं वह बालमनोविज्ञान को नहीं समझ सकता। हम अपनी मानसिक क्रियाओं को समझ कर ही दूसरे के मन का अध्ययन कर सकते हैं। यह स्वीकार करने में हमें किसी भी प्रकार का संकोच नहीं करना चाहिये कि हम बाल-मन से बहुत दूर हैं। अतः उनको समझने में हम भूल भी कर सकते हैं। पर यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि हम बिना अपने मन को समझे दूसरे के मन का अध्ययन कर सकते हैं। बाल-मन के विशेषज्ञ को भी कुछ न कुछ अतर्दर्शन की आवश्यकता अवश्य पड़ती है। अतः यह उपकरण किसी भी भाँति उपेक्षणीय अथवा अवाछनीय नहीं समझा जा सकता, प्रत्युत यह उपकरण बाल-मन के अध्ययन में अपना विशेष महत्त्व रखता है।

बालमनोविज्ञान के लिए निरीक्षण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उपकरण है। इसके द्वारा बालक के अनेक क्रिया-कलापों का निरीक्षण करके उसे नोट किया जाता है। बालक स्वाभाविक रूप से अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार कार्य करता रहता है। उसके कार्यों में बिना किसी प्रकार का हस्तक्षेप किये उसे नोट करते जाना हमारा प्रथम कर्तव्य है। आयुवृद्धि के साथ-साथ उसके कार्यों में जो परिवर्तन आता जाता है उसे निरीक्षक

मे लज्जा, झेंप या सकोच का आविर्भाव जब होता है तभी उसके स्वतन्त्र सहज कार्यो मे अवरोध उत्पन्न हो जाता है। मनोवैज्ञानिको ने इस उपकरण के प्रयोग करने का आदेश केवल माता-पिता या घनिष्ट सम्बन्धियो को ही दिया है। ताकि बालक की चेष्टाओ मे कृत्रिमता न आने पाये। इस उपकरण के लिए माता सबसे अधिक उपयुक्त है क्योकि माता के समक्ष बालक जिस स्वतन्त्रता से आचरण करता है उतना और कहीं नही करता। इस सम्बन्ध मे माता को इस विषय की जानकारी अति आवश्यक है। इसके अभाव मे वह ठीक से निरीक्षण न कर सकेगी क्योकि माता-पिता मे स्वभावतः अपने बच्चो के प्रति पक्षपात की भावना होती है। वे अपनी सतान के लिए कोई भी ऐसी चीज नहीं लिखना चाहते जो कि निरीक्षण के अन्तर्गत तो आ जाती है, किन्तु उसे लिखना वे अपने बालको के लिए प्रतिकूल या अशुभ समझते हैं। इसलिए इसके लिए माता को एक खास तरह की शिक्षा की जरूरत है। घनिष्ट सम्बन्धी, अध्यापक, डाक्टर, वैद्य तथा कुशल दाइयॉ भी सफल निरीक्षक का कार्य कर सकती हैं। किन्तु शर्त यह है कि बालक उनसे इतना अधिक हिला-मिला हो कि वह उनके समक्ष स्वतन्त्र आचरण करे।

निरीक्षक की सुविधा के लिए मनोवैज्ञानिको ने निरीक्षण की अनेक प्रणालियॉ बतलाई हैं। निरीक्षणशाला के प्रयोग का भी सुझाव रक्खा गया है। इसके लिए मकान का एक विशेष कक्ष चुन लिया जाता है जिसमे बच्चे की सुविधा की हर एक वस्तुऍ रक्खी रहती हैं। बालक उसमे स्वतन्त्र रूप से छोड दिया जाता है और उसकी क्रियाऍ निरीक्षक लिपिबद्ध करता रहता है। बालक के भिन्न-भिन्न कार्यों के चित्र भी लिये जा सकते हैं। निरीक्षण का कार्य एक बालक की भॉति एक ही आयु के विभिन्न बालको के साथ भी हो सकता है। भिन्न-भिन्न आयु के बालको का भी निरीक्षण एक साथ किया जा सकता है। उनके कार्यों के अन्तर

को निरीक्षण द्वारा निरीक्षक सावधानी से लिखता जाता है। इस प्रकार इस प्रणाली से आयुवृद्धि के साथ बालकों मे जो विकास होता है उसका समुचित ज्ञान प्राप्त होता है। बालक के जीवन पर रहन-सहन की दशा, आर्थिक दशा, खेलकूद तथा अन्य परिस्थिति एव वातावरण का प्रभाव पडता है। एक ही बालक को भिन्न-भिन्न परिस्थितियो में रखकर निरीक्षण करने से परिस्थितियों के भिन्न-भिन्न प्रभावों का ज्ञान प्राप्त होता है।

प्रयोग भी एक प्रकार का निरीक्षण है। इस उपकरण द्वारा भी बालमन का पर्याप्त अध्ययन किया जा सकता है। प्रयोग तथा निरीक्षण मे अन्तर इतना है कि निरीक्षण के अन्तर्गत बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है और जिन स्थितियों मे निरीक्षण किया जाता है उस पर हमारा अधिकार नहीं होता। प्रयोग में बच्चों को पूर्ण स्वतन्त्रता तो नहीं होती किन्तु जिन-जिन परिस्थितियो में प्रयोग की क्रिया की जाती है उन पर हमारा अधिकार होता है। इस उपकरण द्वारा बालको के चित्त को एकाग्र

है जिसके आधार पर निष्कर्ष निकाला जाता है। बालक का प्रिय खेल, उसकी रुचि, भय आदि से उसके मन का अध्ययन किया जाता है। इस उपकरण में अन्तर्दर्शन से भी सहायता लेने की आवश्यकता पड़ती है। इस उपकरण का उपयोग बाल-मन के अध्ययन में तो किया जाता है किन्तु इसकी उपयोगिता सीमित होती है। प्रथमतः बालक प्रश्नों का व्यापक उत्तर नहीं दे सकते। अतः उनके उत्तरों पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता। अधिकांशतः उत्तरों में स्वाभाविकता तथा वास्तविकता नहीं होती। इस उपकरण में अनेक कमियाँ हैं किन्तु इसके द्वारा भी मनोवैज्ञानिकों ने बाल-मन का अध्ययन किया है।

बाल-मन के अध्ययन का पाँचवाँ तरीका दैनिकी का है। इस विषय में रुचि रखने वाले एक दैनिकी लिखते हैं जिसमें बालक के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कार्यों का उल्लेख होता है तथा उसमें उस कार्य का जो मतलब निकाला जाता है वह भी लिखा जाता है। यह कार्य इतना रूखा है कि जो इसमें विशेष अभिरुचि रखते हैं वही उसको अपनाते हैं। दैनिकी लिखने के लिए संकेत लिपि का यदि प्रयोग हो तो वह और भी अच्छा होगा। एक व्यक्ति एक समय में केवल एक या दो बालक का निरीक्षण कर सकता है।

बचपन की स्मृति भी बाल-मन के अध्ययन के लिए एक उपकरण है। अपने शैशव काल के अनुभव को पुनः स्मृति में लाकर हम उसके द्वारा बालक के मन का अध्ययन करते हैं। यह ज्ञान मौलिक कहा जा सकता है। शैशव में किसी वस्तु के अभाव का हम पर क्या प्रभाव पड़ा था इस आधार पर हम एक अभावग्रस्त बालक के हृदय का अध्ययन कर सकते हैं। महापुरुषों की आत्मकथाओं में वर्णित उनकी अद्भुत घटनाओं द्वारा भी हम मनोविज्ञान का अध्ययन कर सकते हैं। आत्मकथा को रोचक तथा कलापूर्ण बनाने में वास्तविकता का गला घुट जाता है। फलतः जितना अधिक उपयोग हम उसका कर सकते थे, नहीं कर पाते।

डायरियों के आधार पर वास्तविक मनोविज्ञान अध्ययन नहीं किया जा सकता क्योंकि उसमें कृत्रिमता अधिक आ जाती है।

बाल-मन का अध्ययन करने का छठवाँ तरीका तुलना का है। इसके द्वारा बालकों और पशुओं के जीवन का मनोवैज्ञानिक तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। बालकों तथा पशुओं में 'कतिपय स्वाभाविक शक्तियाँ समान होती हैं। क्रीडा करना, स्तनपान आदि कार्य बालक तथा पशु के बच्चे को कोई सिखलाने नहीं जाता। यह कार्य वे स्वत स्वाभाविक रूप में करने लग जाते हैं। चित्तविश्लेषक भी बाल-मन का अध्ययन अपने ढंग से करते हैं। यह अवश्य है कि ये तथाकथित चित्तविश्लेषक बालक के मन में अनेक ऐसी चीजें खोज लेते हैं जिसका बालमन में अङ्कुर तक नहीं होता। वे बालक को प्रौढ दृष्टि से देखते हैं और अनेक निराधार बातें बालक पर आरोपित कर देते हैं। उदाहरण के लिए फ्रायड के काम-वासना के सिद्धान्त को लिया जा सकता है। काम-वासना बालक में लेशमात्र भी नहीं होती, किन्तु फ्रायड के अनुसार शिशु

अव्यवस्थित परिवार और घर

हमारी सामाजिक अव्यवस्था का स्रोत कहाँ है, इसका हमे तनिक भी ज्ञान नही है। इस अव्यवस्था का उद्गम वही है जहाँ से हमारा जीवन प्रारम्भ होता है। जहाँ से हमारा जीवन प्रारम्भ होता है वह स्थान है हमारा घर। यदि हम अपने घर के लोगो का सम्मान करना सीख लेंगे तो हम बाहर भी लोगो का आदर कर सकेंगे। यदि हर घर मे उनके सदस्यो मे आपस मे सद्भावना तथा सहानुभूति रहेगी तो बाहर भी यह सद्भावना बनी रहेगी।

नियन्त्रण, नियमन, सयम का पालन हम घर मे नहीं करते। घर मे यदि हम अपने पर नियन्त्रण करेंगे तो बाहर भी हम अपने पर नियन्त्रण रख सकेंगे। घर में हम एक दूसरे के प्रति कपट, छल तथा मक्कारी का व्यवहार करते हैं। निर्ममता का सारा प्रश्न घर तथा परिवार की सीमा में ही बँधा हुआ है। गत पचास वर्षों मे मनोविज्ञान में इस ओर काफी कार्य हुआ है। किन्तु इसमे अधिकाशतः प्रयोगात्मक कार्य ही हुए जो कि प्रयोग ही बने रहे। निष्कर्षों की बहुत ही भ्रामक व्याख्याएँ की गई हैं। यह व्यापक रूप से स्वीकार कर लिया गया है कि घर की स्वस्थ पृष्ठ-भूमि पर ही बालक का चारित्रिक विकास आधारित है। माता-पिता का परिवार के अन्य सदस्यो से क्या सम्बन्ध है इस पर बालक का भविष्य बहुत अशो मे आश्रित है।

परिवार के सदस्यो में जो आपसी तनाव रहता है उसका बालक के भावुक हृदय पर बुरा प्रभाव पडता है। हर व्यक्ति में अपनी कुछ शक्ति अथवा शक्तियाँ होती हैं। वह या तो आकर्षण हो या तनाव या घृणा। इन दो भिन्न विपरीत दिशाओ के मध्य की भी स्थिति हो सकती है। वह

तनाव रक्त सम्बन्ध में सबसे अधिक होता है। परिवार में ही स्पर्धा निहित है। परिवार के विषाक्त वातावरण का प्रभाव बालक पर अमिट होता है। पिता, पुत्र, माता तथा पुत्री, माता-पिता तथा बच्चों में आपसी स्पर्धा प्यार पाने के क्षेत्र में होना स्वाभाविक ही है। इस इच्छा को अपना प्राधान्य लादने के रूप में प्रकट किया जा सकता है। हर व्यक्ति परिवार में अपने को सर्वोच्च बनाने की चेष्टा में लग सकता है। यह प्रवृत्ति परिवार के विनाश का मूल कारण है। परिवार के सदस्यों में ऐसी गलतफहमी भी उठ सकती है। यही गलतफहमी घर का अन्त कर देती है। उनकी गलतफहमी निम्नतम स्तर में प्रकट होती है। ऐसी भावनाएँ मूल प्रवृत्ति में ही निहित होती हैं। मनोविज्ञान की सहायता से आज हम यह समझ सकते हैं कि किन कारणों से हमारा परिवार विनाशोन्मुख हो रहा है।

यह प्रतिद्वन्द्विता परिवार में शिशु के जीवन पर घटित होती है। इससे अपराधी प्रवृत्ति बलवती होती है। इस प्रवृत्ति का जितना ही दमन किया जाता है वह उतनी ही बलवती होती है। प्रतिद्वन्द्वी चाहे पिता-

जाती है। हमें परिवार की रूपरेखा के चित्र की आवश्यकता है जिसमें भिन्न-भिन्न सम्बन्धी रहते हैं। उचित दिशा में परिवार का विकास होने पर वह एक छोटा मोटा स्वर्ग बन जाता है और इसके विपरीत वह नर्क से भी अधिक दुखप्रद हो जाता है। पति-पत्नी के आधारभूत सम्बन्ध को आने वाली संतान या तो शक्तिशाली या क्षीण बना देती है। परिवार बालक का आन्तरिक ससार है। उसके अनुसार ही वह अपने को बाह्य ससार के समक्ष उपस्थित करता है। यदि वह परिवार मे उपेक्षित है तो वह बाह्य सम्बन्धो की उपेक्षा करेगा, उनसे ईर्ष्या रक्खेगा। भविष्य में वह अपनी स्वय की समस्याओं का भी हल प्राप्त करने मे असमर्थ हो जायगा।

बालक के ऊपर कड़े शब्दो का प्रभाव कड़ी मार से भी अधिक हो जाता है। यद्यपि यह प्रभाव तत्काल नही दिखलाई पड़ता। बालक सामयिक अन्याय तथा डॉट-फटकार से असतुष्ट न होगा। यदि उसे यह निश्चित हो कि उससे प्यार भी किया जाता है, यद्यपि इस सामयिक निर्ममता का भी समर्थन करने का कोई दुस्साहस नहीं कर सकता है। यदि बालक माता-पिता के सच्चे प्रेम की ओर से निश्चित हो जाता है तो उसे कोई भी डॉट-फटकार सामयिक रूप से प्रभावित नहीं करती। बालक अपनी उपेक्षा को भली-भॉति समझ लेता है। परिवार मे एक दूसरे के प्रति चलने वाली ईर्ष्या को बालक बडी सरलतापूर्वक समझ लेता है। उदाहरण के लिए हम बम्बई के जेकब सर्किल मुहल्ले मे स्थित एक परिवार की घटना को ले सकते हैं। एक मराठी बालिका जब पाठशाला गई तो वह सज्ञा के एक वचन रूप को तो याद कर लेती थी किन्तु बहुवचन रूप उसे बिलकुल याद ही नही होता था। बाद मे उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया गया तो ज्ञात हुआ कि वह जब अपने माता-पिता की अकेली संतान थी तब तक उसे उसके माता-पिता बहुत प्यार करते थे; किन्तु जब उसका दूसरा भाई पैदा हुआ तो माता-पिता का साद

प्यार उस नन्हे शिशु पर केन्द्रित हो गया। स्वभावत: उस बालिका की उपेक्षा की जाने लगी। पहले तो शिशु अपनी बहन को बहुत प्यार करता था, किन्तु कुछ आगे चलकर वह बहन को चिढ़ाने लगा। बालिका दुखी तथा उदासीन रहने लगी। वह एकान्त प्रिय हो गई। उसे दुकेलापन खलने लगा। उसकी इस प्रवृत्ति का प्रभाव इतना भयानक हो गया कि वह एक वचन तो याद रख पाती थी किन्तु बहुवचन नहीं याद कर पाती थी।

ऐसे राष्ट्र का निर्माण करने में जहाँ बालकों के प्रति उपेक्षा तथा निर्ममता का व्यवहार न हो, हमें पहले अच्छे परिवारों का निर्माण करना होगा। घर का अर्थ परिवार में सीमित नहीं है वह क्षेत्र जहाँ बालक के प्रति स्नेह, उसके प्रति प्रेम सुरक्षित है वही स्थान परिवार के अतिरिक्त घर की संज्ञा से विभूषित किया जा सकता है। घरों में "Home, sweet home" की तस्वीर लगी होती है किन्तु इस कथन के महत्त्व को न तो समझा नहीं गया है या जानबूझकर उस कथन की उपेक्षा की जा रही है।

उदासीन हो जायगा। यदि उसकी प्यार पाने की आकांक्षा पर चोट पहुँची है तो अत्यधिक हानि होती है। अत्यधिक कड़ाई करने वाले माता-पिता तथा अत्यधिक लापरवाह माता-पिता दोनों बालक के लिए हानिप्रद हैं। यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि कभी-कभी अच्छे माता-पिता अनजाने में बुरों की भाँति बालक का अहित कर बैठते हैं। इसका अनुभव इसलिए नहीं किया जाता कि इसका तात्कालिक प्रभाव हम नहीं देख पाते।

वह बालक जो कि शैशव मे बहुत अधिक प्यार पाता है, यह समझता है कि परिवार का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति वही है। यही विचार कुछ आगे बढ़कर आता है। बालक अपने को विश्व का सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण व्यक्ति मानता है। फलतः उसका मेल अपने साथियों से नहीं रहता क्योंकि वह अपना महत्त्व अपने साथियो पर लादना चाहता है। वह बालक जिसे प्यार तो मिलता है, किन्तु साथ-साथ ही कड़ा अनुशासन कायम रखने के लिए माता-पिता उस पर कड़ा नियंत्रण भी रखते हैं, उसी प्रकार प्रभावित होगा जिस प्रकार उपेक्षित बालक होता है। इस प्रकार के बालकों को हम चार श्रेणियो मे विभक्त कर सकते हैं।

(१) उपेक्षित
(२) दुर्व्यवहृत
(३) परित्यक्त
(४) अनियन्त्रित

शिशु के प्यार का केन्द्र माता है। जैसे-जैसे वह बड़ा होता है वैसे-वैसे उसका प्यार व्यापक होता जाता है। उसका यह प्यार माता-पिता के मध्य में सतुलित होना चाहिए, प्रायः शिशु का अत्यधिक झुकाव माँ की ओर तथा कन्या का पिता की ओर होता है। ऐसे समय मे माता-पिता में इस प्यार को सतुलित रखने की योग्यता होनी चाहिए। शिशु की दूसरी आवश्यकताएँ भी हैं। वे आवश्यकताएँ आदर करना, आज्ञा-पालन

करना, सही और गलत का भेद बतलाना आदि हैं। बालक पिता से प्रभावित होकर उसकी तरह बनना चाहेगा। कन्या माँ से प्रभावित होकर वैसी ही माँ बनना चाहेगी। किन्तु केवल विवाह सम्बन्ध की सुदृढ़ता तथा सुन्दर परिवार एवं घरो द्वारा ही बालक की यह आवश्यकता पूर्ण होगी।

माता या पिता के बुरे व्यवहारों का प्रभाव अत्यन्त भयानक होता है। ऐसे माता पिता न हों तो भी अच्छा होता है। क्योंकि बालक या बालिका जिस परिवार में रहते हैं, बड़े होकर वे उसी प्रकार के परिवार का निर्माण करते हैं। यह पैतृक उत्तराधिकार नहीं वरन् अनुकरण की भावना है। गरीब परिवार में भी बहुधा अच्छे घर होते हैं जहाँ शिशु को भौतिक अभाव तो अवश्य रहता है; किन्तु वह मातृ-प्यार तथा पिता की सावधानी से सुरक्षित रहता है।

धनवानो मे भी बुरे घर होते हैं जहाँ बालक का पालन-पोषण दाइयों पर आश्रित रहता है। कभी-कभी ये दाइयाँ माँ से भी अच्छा प्यार देती हैं और कभी वह शिशु के उत्थान में अभिशाप बन जाती हैं। हमें उदयपुर चित्तौड की पन्ना धाय याद आ गई है। जहाँ माँ केवल शिशु उत्पन्न करने की मशीन बन जाती है, वहाँ वह स्वाभाविक रूप से शिशु के प्रति उदासीन तथा निर्मम हो जाती है। परिवार के बिगड़ने के कतिपय साधारण कारण हैं

(१) विपरित परिस्थितियाँ.
(२) नासमझी.
(३) अज्ञानता.
(४) अनावश्यक मातृत्व,
(५) अनुत्तरदायित्व
(६) अनर्पात मातृत्व. और
(७) भाव अपरिपक्वता।

विपरीत परिस्थितियों से हमारा [illegible]

स्थितियाँ । अज्ञानता से हमारा तात्पर्य है माता-पिता की पालन-पोषण सम्बन्धी अज्ञानता । अनावश्यक मातृत्व में स्त्री की इच्छा न होते हुए भी भोग-वासना में वह गर्भवती हो जाती है । यह कार्य एक के बाद दूसरा इतनी शीघ्रता से होता है कि बालक की माँ एक बच्चे को सँभालने नहीं पाती तब तक दूसरे की तैयारी हो जाती है । ऐसी अवस्था में माँ में चिड़चिड़ापन, निर्ममता तथा उदासीनता का उदय होना स्वाभाविक ही है । कुछ माता-पिता जानबूझ कर गैरजिम्मेदारी बरतते हैं । वे उत्तरदायित्व के महत्त्व का अनुभव ही नहीं कर पाते । मातृत्व की भावना का पूर्णोदय हुए बिना, छोटी आयु में विवाह कर देना भी घर के बिगड़ने का एक कारण है।

प्रत्यक्ष निर्ममता को तो हम देख लेते हैं, किन्तु मानसिक निर्ममता तथा परोक्ष उपेक्षा को समझना दुष्कर कार्य है । निश्चित रूप से उपेक्षा तथा निर्ममता के सभी कारणों को नहीं बतलाया जा सकता । किन्तु उनमें अधिकाधिक कारणों की खोज की जा रही है । इस खोज-कार्य में माता-पिता तथा अध्यापकों के सहयोग की अत्यन्त आवश्यकता है । गरीबी और बालक की अनावश्यकता ही बालक की उपेक्षा तथा उसके प्रति निर्ममता का सबसे बड़ा कारण है । इस उपेक्षा तथा निर्ममता के आधारभूत कारण निम्नलिखित हैं :

(१) अनावश्यक या अनचाहा शिशु,
(२) हृदय की क्षुद्रता (ओछी बुद्धि),
(३) अनावश्यक मातृत्व,
(४) गरीबी,
(५) अव्यवस्थित परिवार,
(६) असंयमित यौन सम्बन्ध,
(७) घर की स्थिति,
(८) अज्ञानता, और
(९) स्वार्थपरता ।

अनचाहा शिशु का अर्थ यह नहीं होता कि जितने भी दुर्व्यवहृत बालक हैं सब अनचाहे हैं। बहुधा बालक स्वार्थरता तथा क्रूर माता-पिता की वासनाओं का शिकार बन जाता है। बालक की उपेक्षा का अर्थ है उसकी भावनात्मक तथा शरीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति न करना। आर्थिक दुर्दशा, अज्ञानता में कुछ भी बालक की उपेक्षा का कारण बन सकता है। यदि शिशु अनचाहा हो तो उसके साथ प्रत्यक्षतः निर्ममता बर्ती जाती है। इस निर्ममता में माता-पिता के अन्य भी कई भौतिक कारण हो सकते हैं। अनचाहा वह इस अर्थ में हो सकता है कि माता तथा पिता में से किसी ने भी उसके जन्म की इच्छा न की हो और संयोगवश या घटनावश उत्पन्न हो गया हो। ऐसा बालक समस्त विश्व को निर्मम तथा क्रूर समझ बैठता है। ऐसे शिशु का माता-पिता यदि समृद्ध हैं तो वे उसे नर्स-दाइयों के हाथ में छोड़कर निश्चिन्त हो जाते हैं और यदि नहीं तो बालक सदैव भावनात्मक तथा शारीरिक दृष्टि से त्रस्त रहेगा। कुछ ऐसे भी शिशु हैं जो जन्म के समय तो अनचाहे नहीं होते किन्तु परिस्थितियों में परिवर्तन होने के कारण आगे चलकर अनचाहे हो जाते

है। ज्यों ही बालक को यह ज्ञात होता है कि वह अनचाहा है त्यों ही उसके मन पर यह प्रभाव पड़ता है कि यह ससार अत्यन्त निर्मम है। उनमें से कुछ अपने अधिकार-सघर्ष की भावना लेकर पनपते और पलते हैं और कुछ सघर्ष छोडकर मृत्यु को अपना लेते हैं। ऐसे ही बालक आगे चलकर क्रूर, निर्मम, निर्दयी, स्वार्थी तथा दुश्चरित्र होकर ससार की शान्ति का सबसे बड़ा शत्रु बन जाते हैं। उनमे प्रतिकार तथा प्रतिशोध की ज्वाला प्रतिक्षण धधकती रहती है। कुछ ऐसे होते हैं जो कि ससार की निर्ममता के समक्ष आत्मसमर्पण करके कायरतापूर्ण, परमुखापेक्षी होकर अभिशप्त जीवन व्यतीत करते हैं। दूसरी ओर वह बालक जो निर्ममता तथा उपेक्षा मे नहीं पलता, ससार के लिए एक वरदान बन जाता है।

अतः शिशु पर यदि माता-पिता डाट-फटकार के साथ शारीरिक दण्ड भी देते हैं तो उसमें अपराधी प्रवृत्ति उत्तेजित होती है। वह समाज के विरुद्ध एक जीता-जागता विद्रोह खड़ा कर देता है। भले ही यह विद्रोह विनाशात्मक हो किन्तु इस विद्रोह के लिए समाज कम उत्तरदायी नहीं होता। घर की बुरी स्थिति, शिक्षा की गलत दिशा, नैतिक सरक्षण, पथ प्रदर्शन का अभाव ही हमारी आज की सभ्यता की विशेषता तथा आज की समस्या का मूल है। इस सभ्यता ने यान्त्रिक सुविधाएँ हमें अवश्य दी हैं किन्तु इससे हमारी मानसिक-आत्मिक क्षुधा शान्त नहीं हो पाई।

हमारे निश्चित स्थापित विश्वासों के विपरीत यदि किसी नव-सत्य का अन्वेषण होता है तो हमें उससे भयभीत, अप्रसन्न होने तथा उसके राह में रोड़े अटकाने की आवश्यकता नहीं है। हाँ उसे समझकर उसको अपना लेना हमारे लिए श्रेयस्कर है। ओछी बुद्धि के प्रति निर्ममता तथा उपेक्षा का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण है। इस ओछी बुद्धि के अतर्गत हमारी मानसिक सकीर्णता भी आ जाती है। कई पीढी तक की अपर्याप्त भोजन सामग्री, गन्दा रहन-सहन तथा निम्नवश आदि का भी प्रभाव बहुधा हमारी बुद्धि के पतन के लिए उत्तरदायी होता है। ओछी बुद्धि के

लोगो में तर्क का अभाव होता है। वे अपनी बुरी प्रवृत्तियो से घिरे होते हैं। वे निष्कर्ष निकालने में भी अयोग्य होते हैं। इस दोष के कारण अच्छे प्रकार के जीवन-यापन करने के सकेत को भी वे नही सीख सकते यह केवल तभी हो सकता है जब कि ऐसे लोग साधारण वातावरण के प्रभाव से मुक्त कर दिये जायँ। उनकी वर्तमान समस्याओ को सरल कर दिया जाय तथा उनकी समस्याओ को उनकी सामर्थ्य के बाहर न जाने दिया जाय। ऐसे लोग औसत से अधिक बच्चे उत्पन्न करने की महत्त्वाकाक्षा रखते हैं। ऐसी सतान उनकी ओछी बुद्धि का उत्तराधिकारी होती है।

सतति निग्रह का अधिकाधिक प्रचार अस्वस्थ शिशुओ का उत्पादन रोक देगा। किन्तु यह सब व्यक्तिगत आत्म सयम पर ही आश्रित है। घर समाज का एक आन्तरिक अग है। समाज का यह प्रथम कर्तव्य है कि वह अच्छे परिवारो का निर्माण करे। बुरे परिवार को या तो वह अस्तित्व मे ही न आने दे या फिर उसे अच्छे परिवार के रूप मे बदल दे। शुभ विश्वास कामनाओ की छाया में हुआ विवाह अच्छे परिवार का प्रारम्भ मात्र है।

अनावश्यक मातृत्व भी आज की एक विशिष्ट समस्या तथा निर्ममता और उपेक्षा का एक महत्त्वपूर्ण कारण है। एक स्वस्थ महिला अपने जीवन मे २० या २५ बालकों को जन्म दे सकती है। किन्तु आज कितने लोग ऐसे हैं जो २० या २५ बालकों का भरण-पोषण कर सकते हैं? कितने लोग उनके लिए उचित प्रबन्ध करने मे समर्थ हैं? कितनी स्त्रियाँ वास्तव मे अत्यधिक गर्भवहन करने मे स्वस्थ हैं? कितनी स्त्रियाँ ऐसी हैं जिनमे मातृत्व स्नेह का इतना भण्डार है कि वे परिवार के किसी भी सदस्य की उपेक्षा किये बिना बालक की देख-भाल कर सकें? गर्भ-धारण करने की योग्यता ही मातृ प्रवृत्ति के पूर्ण विकास का लक्षण नहीं है। यह बालक की सभी आवश्यकताओ की पूर्ति का आश्वासन नहीं है।

माता के ऊपर आवश्यकता से अधिक परिवार का भार भी बालक की

उपेक्षा का कारण है। यदि आठ शिशुओं का पालन २५) महीने में करना पड़े तो यह शिशु-पालन एक अभिशाप, एक समस्या का रूप धारण कर लेता है। यदि यह आठ गर्भाधान माता को शारीरिक रूप से भी कमजोर कर देते हैं तो शिशु-पालन एक समस्या बन जाता है। यदि बालकों की संख्या माता-पिता की देख-रेख करने की शक्ति के परे हो जाती है तो उसके कारण (चाहे आर्थिक या माता-पिता की प्रकृति हो) बालकों की उपेक्षा होना अत्यन्त स्वाभाविक हो जाता है। ये कारण दुर्भाग्यवश अधिकांशतः गरीब और बहुत अधिक बड़े परिवार में पाये जाते हैं।

शिक्षित माता-पिता भी परिवार को सुचारु रूप से ले चलना नहीं जानते। वे इस विषय मे किसी योग्य व्यक्ति से सलाह लेना भी अपने सम्मान के विरुद्ध समझते हैं। नारी लज्जावश या तो बिना विरोध प्रदर्शित किये हुये अतिशय गर्भ का भार-वहन करती है या तो विद्रोह करती हैं। पहली स्थिति मे उसके अव्यक्त मन मे पति तथा पुत्र के प्रति घृणा निर्ममता तथा उपेक्षा का भाव जाग्रत होता है दूसरी स्थिति मे उसका नारीसुलभ सौम्य रूप विकृत हो जाता है। इसका परिणाम अत्यन्त दुखद होता है। वैवाहिक गार्हस्थ जीवन अभिशाप बन जाता है, बालक अनचाहा होता है। बहुत हुआ तो गर्भपात द्वारा एक निर्दोष जीव की भ्रूण हत्या कर दी जाती है। संततिनियमन से बहुधा लोग जाति समाप्त हो जाने की शंका उठाते हैं किन्तु उनकी शंकाएँ निराधार हैं संततिनियमन का अर्थ संतानोत्पादन को पूर्णरूपेण रोक देने से नहीं है। आज की बढ़ती हुई जनसंख्या कल देश की आर्थिक अव्यवस्था का कारण होगी। भारत मे प्रचलित विचार द्वारा पितृ ऋण से मुक्त होने के लिए संतानोत्पादन एक आवश्यक कार्य है। इस विचार की पावनता के समक्ष हम शीश नवाते हैं किन्तु निर्बल, हठी, दुराचारी, उपेक्षित पुत्र उत्पन्न कर हम न केवल राष्ट्र की वरन् अपने पूर्वजों की पावन परम्परा की अवहेलना करेंगे। दस अयोग्य पुत्र उत्पन्न करने मे अच्छा एक

योग्य पुत्र उत्पन्न करना है। कोई भी विवेकी तथा विचारशील व्यक्ति मेरे इन विचारों से सहमत होगा इसका मुझे पूर्ण विश्वास है।

कुछ लोगों का मत है कि प्रकृति के कार्यों मे कृत्रिम संततिनियमन के द्वारा बाधा पहुँचाना सर्वथा अनुचित है। उनसे यह विनम्र अनुरोध किया जा सकता है कि हम अपनी समस्याओ को सुलझाने के लिए यदि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस उपाय को अपनाये तो बुरा न होगा। हमारी जीवन की सभी समस्याओं को सुलझाने में प्रकृति दुर्भाग्यवश पूर्ण रूपेण समर्थ नहीं है अतः हमें कृत्रिम उपायो का सहारा लेना होगा जो किसी भी दृष्टिकोण से अनुचित नहीं है। प्रकृति हमे घर या आय नही दे सकती जिससे अपने परिवार का भरण-पोषण कर सके। हमे इतना संकुचित दृष्टिकोण का नहीं होना चाहिये। इस विषय में माता की कुशलता पर शिशु की कुशलता तथा परिवार की शान्ति और सुरक्षा आश्रित है।

गैर कानूनी गर्भपात भी हमारी सभ्यता के लिए एक अभिशाप है। यौवन के मदान्ध अभिशाप से निर्दोष शिशु का गला घोंट दिया जाता है। वासना के खिलवाड़ में एक जीव की हत्या कर दी जाती है। यह कार्य केवल अविवाहित लड़कियो तक ही सीमित नहीं है इसमें विवाहित स्त्रियाँ भी सम्मिलित हैं जिनके स्वय अपने बच्चे भी हैं। इसमें सबसे बड़ी दुर्भाग्य की बात यह है कि जो स्त्री संततिनियमन का सिद्धात नही जानती या जो नारीसुलभ लज्जावश इस विषय मे सलाह नहीं ले पाती वह जहरीली औषधियों द्वारा गर्भपात कराती है। इस अस्वाभाविक गर्भपात का स्त्री के स्वास्थ्य पर अत्यन्त भयानक असर पड़ता है। इस गैर कानूनी गर्भपात का कारण आर्थिक अधिक होता है। कहीं-कहीं सामाजिक असम्मान का भय भी इसका कारण बन जाता है। इस प्रकार गर्भपात करा देने वाली महिलाओ मे स्वभावत. मातृत्व स्नेह नष्ट हो जाता है और भविष्य मे वे अपने सभी शिशुओ के प्रति निर्मम हो जाती हैं। गर्भपात भी शिशु के प्रति निर्ममता का ही द्योतक है।

गरीब परिवार में माता-पिता अपने वालकों को अपनी गरीवी तथा संघर्ष की जीती-जागती प्रतिमा के रूप में देखते हैं और उनके प्रति निर्मम व्यवहार करते हैं। इस निर्ममता तथा उपेक्षा का बहुत बड़ा उत्तर-दायित्व समाज पर भी है। धन तथा शिक्षा सुख के आश्वासन नहीं हैं। यदि आप नियमन के सिद्धान्त समझ गये हैं और आप के पास पर्याप्त धन भी है तो एक सुखी परिवार की स्थापना करने में आप अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक समर्थ हो सकेंगे। समाज द्वारा विवाह और परिवार सम्बन्धी सभी परम्पराओं को जो कि आज अभिशाप बन चुकी हैं मिटा देना होगा। समाज में उसके सदस्यो को यौन सम्बन्धी जीवन के क्रियात्मक सार्थक तथा सफल रूप को समझाना होगा। ताकि नारी अनावश्यक लादे गये गर्भ के भय से मुक्त होकर आत्मसम्मानपूर्ण जीवन-यापन कर सके। समाज को नारी के इस अधिकार को मान्यता देनी होगी। वह डाक्टर से अनावश्यक गर्भाधान के विषय मे सलाह ले और यदि आवश्यक हो तो प्रारम्भ हुये गर्भ को भी समाप्त करने की प्रार्थना करें। पर गर्भ-समाप्ति से सुन्दर गर्भ-निरोध है। राष्ट्रीय स्वास्थ्य समिति का निर्माण होना चाहिये। जिसके अन्तर्गत आदर्श परिवार निर्माण की योजना को स्थान दिया जाना चाहिये। इससे वालक के प्रति उपेक्षा तथा निर्ममता के व्यवहार में निश्चित रूप से कमी होगी।

स्त्री की यौन प्रवृत्ति की आवश्यकता और उसका बौद्धिक भावनात्मक आध्यात्मिक नियन्त्रण द्वारा परिमार्जन उसके पारिवारिक वातावरण पर आश्रित है। नारी का सतीत्व उसकी पवित्रता, उसकी अज्ञानता पर नहीं वरन् उसके ज्ञान पर आश्रित है। नारी को यौन सम्बन्धी पूरा ज्ञान आवश्यक है। कुछ लोग इस विचार के विरुद्ध हैं कि उनकी स्त्रियाँ यौन सम्बन्धी अज्ञानता से मुक्त हो। इससे बढ़कर भयकर भूल दूसरी नहीं हो सकती। स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध गर्भवती बनाने मे कहीं संतोष नहीं है। विशेषकर यदि आप का परिवार पहले ही इतना बड़ा है कि उसका

भरण-पोषण करने मे आप असमर्थ हैं तो इससे बढ़ कर मूर्खता और कुछ न होगी। जहाँ नारी पति को उसकी नाराजगी के भय से आत्मसमर्पण अपनी इच्छा के विरुद्ध करती है वहाँ वैवाहिक जीवन कदापि सुखी एव फल-फूल नहीं सकता। यही नहीं माता-पिता के इन सम्बन्धो का प्रभाव बालक पर पडेगा। बालक के साथ वही उपेक्षा और निर्ममता का व्यवहार किया जायगा। ऐसे समय स्त्री अनावश्यक गर्भाधान तथा अपनी सारी परेशानियों का उत्तरदायी अपने पति को समझती है। उसका यह विचार गलत नहीं कहा जा सकता। इन गर्भाधानों के पश्चात् यदि उसे गर्भपात भी कराना पडता है तो वह अपने पति के और भी विरुद्ध हो जाती है। इन सारी कटुताओ का मूल कारण भय, सकोच तथा अज्ञानता है। गर्भपात से उत्पन्न लज्जा की तथा अपराध को जो तीव्र अनुभूति होती है उसका नारी के मस्तिष्क तथा सम्पूर्ण शरीर पर अत्यन्त विपाक्त प्रभाव पडता है।

ससार की प्रत्येक वस्तु जिस रूप मे उत्पन्न होती है वह उसी रूप मे काम मे आने योग्य नही होता। दोष-परिमार्जन, गुणाधान, तथा हीनाङ्गपूर्ति इन त्रिविध सस्कारों द्वारा सस्कृत हो जाने पर ही उसको कार्योपयोगी बनाया जा सकता है। भारतीय सस्कृति का यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि हमारा दाम्पत्य जीवन विषय-वासना की पूर्ति के लिए नहीं वरन् जीवन के उच्चतम आदर्श की प्राप्ति के लिए है। पुत्रोत्पादन भी उक्त साधन का ही अन्यतम अग है। आज विषयासक्त माता-पिताओ को इसका तनिक भी ध्यान नहीं रहता। केवल विषयानन्द की सीमा तक ही उनका यह आनन्द रहता है। इच्छा न रहते हुये भी अनाकांक्षित सतान बीच मे टपक पडती है जिसका जन्म हम सयोगवश मान बैठते हैं। आज का सहवास-समागम भी उद्देश्य-शून्य है। हिन्दू शास्त्रों में गर्भाधान सस्कार उद्देश्यपूर्ण सतानोत्पत्ति की भावना का जागरण करने के

लिए ही रक्खा गया है। यह बात प्राय: सिद्ध हो चुकी है कि गर्भाधान के समय पति-पत्नी के हृदय तथा अन्तर्चक्षु के समक्ष जो चित्र, जो विचार होता है संतान उसी के प्रतिबिम्ब को लेकर जन्म लेती है। प्रत्येक भारतीय संतानोत्पत्ति की पृष्ठभूमि में पवित्र भावना और आदर्श से अनुप्राणित होकर धर्म-अर्थ-काम मोक्ष, सद्गति तथा परमगति की इच्छा रखता था। यही धर्मज संतान कामना का पवित्रतम आदर्श है। भारत में दाम्पत्य जीवन का लक्ष्य पवित्र प्रेम की प्राप्ति, पातिव्रत तथा कल्याणमयी संतान लाभ में सन्निहित था। पुरुष और स्त्री प्रेमार्जन के ही हेतु दाम्पत्य जीवन में प्रवेश करते थे। काम और धर्म के माध्यम से प्रेम-लाभ होता है। विषयभोग से आसक्ति नहीं उपरति प्राप्त होती थी। पाश्चात्य विचारानुकूल दाम्पत्य जीवन का आनन्द केवल विषयभोग है इस विचार से भारतीय आदर्शों पर एक भयानक आघात लगा है। निष्पाप और यशस्वी धर्मज संतान-प्राप्ति की आधारशिला का एक आवश्यक अंग तपस्या है। यही संतान-कामना का भारतीय आदर्श है।

वर्तमान काल में गर्भावरोध के लिए अनेक प्रकार के यान्त्रिक एवं भेषजीय उपाय प्रचलित हैं और उनका आधार लेने से वे तुरन्त फल देने वाली भी होती हैं किन्तु इससे भविष्य अति दुखमयी एवं कष्ट हो जाता है। क्योंकि इन उपायों से स्त्रियों को बहुधा श्वेत प्रदर, जरायूकैंसर, हिस्टेरिया तथा कामोन्माद रोग हो जाते हैं। अतः अत्यन्त सावधानी से हमें ऐसे उपायों से काम लेना चाहिये जिससे हम उपर्युक्त दोषों से मुक्त भी रहें और साथ ही साथ जन्म-नियन्त्रण भी पूर्ण रूपेण हो जाय।

आधुनिक वैवाहिक जीवन की असफलता हमारे समक्ष रहस्यमयी समस्या के रूप में उपस्थित हुई है अतः हमें उसके समाधान को खोज निकालना होगा। क्या लोग दुखी हैं? क्या विवाह-बन्धन खतरे में है? यह हमारे लिए एक समस्या है। प्रत्येक समाज में जहाँ वैवाहिक जीवन असफल हो रहा है। लोग दुखी हैं और यदि लोग दुखी हैं तो वैवाहिक

सम्बन्ध पर आघात पहुँचना अनिवार्य है। यह दो चीजे परस्पर सम्बन्धित हैं। प्रत्येक या अधिकाश वैवाहिक जीवन की असफलता का कारण अनुप्राणित करने वाली जीवनी शक्ति तथा मृदुल भावनाओं का अभाव है। अपवाद रूप में अन्य भी कारण हैं किन्तु प्रमुख यही है। प्राचीन काल में विवाह एक पवित्र जीवन पर्यन्त निबाहने का सस्कार माना जाता था। किन्तु अब बाह्य मिलाप तो बहुत है पर आन्तरिक कटुता परिवार को नर्क बनाये हुये है। स्थिरता के कारण दम्पति किसी प्रकार अपनी समस्याओं को सहयोग से हल कर लेते थे। किंतु अब विवाह-सम्बन्ध में स्थायित्व के अभाव में निकट होते हुए भी पति पत्नी से बहुत दूर है और पत्नी पति से बहुत दूर है। उनमे सहनशीलता तथा सामञ्जस्य नहीं रह गया। इसके विपरीत यदि किन्ही पति-पत्नी को एक साथ बने रहने के लिए बाध्य किया गया तो वे भी आगे चलकर समाज के लिए एक अभिशाप बन गये। अत विवाह की सफलता के लिए पति-पत्नी मे आपस में प्रगाढ प्रेम तथा सवेदना की आवश्यकता है।

कारण की ओर न देखकर प्रभाव की ओर देखने की हमारी प्रवृत्ति

जीवन की थोड़ी सी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी। किन्तु अब हमारा जीवन अधिक उलझा हुआ आडम्बरमय असंतुष्ट है। सम्बन्ध-विच्छेद के द्वारा हमारे वैवाहिक जीवन मे जीवन की समस्याओं को हल करने की अपेक्षा पलायन-वृत्ति अधिक सशक्त हो गई है। यदि हम इस सभ्यता की सुविधाओं को छोडना नहीं चाहते, जैसा कि असम्भव है तो हमे जीवन के प्रति एक नवीन अधिक सशक्त व्यापक दृष्टिकोण अपनाना होगा।

हमे विवाह को पुनः सामाजिक जीवन की आधारशिला बनाना चाहिये। यदि यह नहीं होता तो समाज समाप्त हो जायगा। वैवाहिक जीवन के उच्चतम आदर्शों को हमें आत्मसात् कर लेना होगा। नारी और पुरुष के भेद-विभेदो को समाप्त कर देना चाहिये। दोनों के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को सम्मानित मान्यताएँ मिलनी चाहिये। दोनो विश्व की एक इकाई तथा एक दूसरे के पूरक हैं। तरुण वर्ग अनिवार्यतः स्वभावतः घर बसाने की इच्छा से प्रेरित नहीं होता। उसका इन्द्रिय-जनित सुख प्यार पाने को आतुर रहता है। विषयानन्द प्राप्ति के बाद ही वह अन्य विचारों तथा कार्यों की ओर उन्मुख होता है। नवयुवक के लिए वैवाहिक उत्तरदायित्व से पलायन की प्रवृत्ति स्वाभाविक ही है। मुख्यत वह इन उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक नहीं होता। किन्तु उसकी दूसरी आवश्यकता भी है। उसे किसी ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है जो माँ के बाद उसे अपना सपूर्ण प्यार दे सके, जिससे वह अपना सुख-दुख अपनी अन्तर्निहित भावनाओ को नि.सकोच सुना सके। अतः एक युवक के लिए विवाह उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए आवश्यक है। आज की हमारी अधिकाश समस्याएँ इसी पर आधारित हैं कि हम विवाह का महत्त्व भूल चुके हैं।

तरुणी तरुण की अपेक्षा इस दिशा मे अधिक जरूरतमन्द है। उसकी ऐन्द्रिक वासनाएँ प्रकृति द्वारा हर ओर से बँधी हुई हैं। अत. उसे

जीवन में एक ऐसे पथ की आवश्यकता है जिसके द्वारा वे वासनाएँ पूर्ण रूपेण सुरक्षित तथा स्थाई रूप से व्यक्त हो सकें। अतः विवाह उसके लिए भी आवश्यक है। दुर्भाग्य से आज का तरुण वर्ग अपनी आवश्यकताओं से स्वयं अपरिचित है। धीरे-धीरे उनमें यह विश्वास पनपने लगा है कि विवाह एक ऐसा ठेका या समझौता है जिसके द्वारा दम्पति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। यदि किसी भी प्रकार का मनोमालिन्य पति-पत्नी के बीच उत्पन्न हो जाय तो उसे सम्बन्ध-विच्छेद द्वारा समाप्त किया जा सकता है, यह धारणा वैवाहिक जीवन के पतन के लिए कम उत्तरदायी नहीं है। उनका ध्यान प्रणय मनुहारों की ओर ही प्रधानतः केन्द्रित रहता है। दुर्भाग्य से वैवाहिक जीवन में इस क्षणिक सुख को सर्वाधिक महत्त्व दिया जा रहा है। इस धारणा के कारण आगे चलकर जब पति-पत्नी की वासनाएँ कुछ तृप्त हो जाती हैं, उन्हें नित्य नवीन आनन्द का अभाव खटकने लगता है। फलतः उनमें कटुता उत्पन्न हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप बालक उनकी कटुता, उपेक्षा तथा निर्ममता का शिकार होता है क्योंकि वही सबसे अधिक कमजोर और निरीह है।

मातृत्व तथा पितृत्व के रक्षार्थ सफल वैवाहिक जीवन के लिए तरुण वर्ग को अत्यन्त सावधानी से तैयार करने की आवश्यकता है। उन्हें विवाह के ऐन्द्रिक महत्त्व के साथ-साथ उसके आदर्श से भी परिचित करा देने की आवश्यकता है। उन्हे मातृत्व तथा पितृत्व के सुख तथा उत्तरदायित्व के प्रति सचेत कर देने की आवश्यकता है। यह सुख तथा उत्तरदायित्व अन्तर्सम्बन्धित है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व सम्भव नहीं है। वास्तविक सुख को खो देना कितना सरल है यह भी उन्हें ज्ञात होना चाहिये। जब वे यह जान जायेंगे कि नारी तथा पुरुष जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक दूसरे की आवश्यकताओं के पूरक हैं तथा विवाह और मातृत्व पितृत्व से ही उनका पूर्ण विकास सम्भव है तो वैवाहिक जीवन

के वास्तविक सुख का उदय होगा और शिशु के प्रति की जाने वाली निर्ममता का स्वभावतः ह्रास होगा।

बहुत सी स्त्रियाँ शिशु उत्पन्न करना बिलकुल नही चाहतीं और इसके लिए वे अपने स्वास्थ्य तथा जीवन तक का खतरा उठाने को तैयार रहती ह। यह मातृत्व की हत्या है। बहुधा देखा गया है कि गर्भपात के अनेक उपाय असफल होते हैं और शिशु इस ससार मे जन्म लेता ही है। अपने जन्म के साथ ही वह अपनी सबसे बडी शुभचिन्तिका माँ की ही निर्ममता का शिकार होता है। ऐसी स्त्रियो के प्रशिक्षण के लिए केन्द्र खोलने की आवश्यकता है जहाँ उन्हे पारिवारिक व्यवस्था की शिक्षा मिलनी चाहिये। मातृत्व अपने सर्वोत्तम रूप मे विश्व मे पाये जाने वाले प्यार का स्वार्थरहित सर्वश्रेष्ठ रूप है। यह नारी जीवन का चरम विकास है। स्त्रियो मे मातृत्व के प्रति इस उदासीनता तथा इस उदासीनता के दूसरे रूप शिशु के प्रति निर्ममता का क्या कारण है? यदि प्रत्येक नारी—नारी के रूप मे पूर्णरूपेण विकसित हो जाती है जिसका अर्थ बाह्य आकार आदि से नही है, तो शिशु के प्रति निर्ममता मे पर्याप्त कमी हो सकती है। अपने विकास के दौरान मे कहीं पर बहुधा नारी का विकास अवरुद्ध हो जाता है और वह पूर्णरूपेण नारी नही बन पाती। हो सकता है वे देखने में नारी मालूम पड़ें, उनमे औसत यौन प्रक्रिया भी होनी हैं किन्तु फिर भी उनका विकास अवरुद्ध हो चुका होता है।

इसका क्या कारण है? कारण मुख्यत· नारी का विद्रोह है। वे वैधानिक समानता तथा स्वतन्त्रता की माँग करती हैं जिसका उन्हें अधिकार है। कोई भी विवेकी व्यक्ति उनकी इस माँग के औचित्य मे सदेह नही कर सकता। किन्तु इस माँग की आवाज को तीव्रतर करने मे वे इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण तत्व को भूल गईं। प्लेटो की भाँति आज भी कोई "Woman is by nature inferior to man" कहने का साहस नही कर सकता। अपनी समानता और स्वतन्त्रता पर जोर देने में

वह न केवल पुरुष के विपरीत वरन् नारी प्रकृति के विरुद्ध कार्य करने लगती है। बालकों तथा विवाह तक को वह अपनी स्वतन्त्रता में बाधक समझती है। यदि पुरुष शिशु की परवाह नहीं करता तो वह उसकी परवाह क्यों करे? इस प्रकार की विरक्त धारणा नारी के अन्तर में दिनोदिन घर करती जा रही है। हर दलित वर्ग की भाँति दमन तथा उपेक्षा की प्रतिक्रिया में नारीस्वतन्त्रता की माँग को उस सीमा के आगे तक पहुँचा रही है जहाँ स्वतन्त्रता का अर्थ उत्तरदायित्वहीनता समझ लिया गया है। नारी-स्वतन्त्रता के विरोधी भी यही तर्क देते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि प्रतिक्रिया जब अपनी सीमा का अतिक्रमण करती है तो अत्यन्त हानिप्रद हो जाती है। वास्तव में वैधानिक स्वतन्त्रता और पूर्ण विकसित नारीत्व में कोई विरोध नहीं है।

दूसरी ओर जिन लोगों का विचार है कि स्त्री का क्षेत्र घर की चहारदीवारी, रसोई और बिस्तर है, वे भी सरलता से आँख मूँद लेते हैं। सफल माँ और पत्नी के लिए पति और पुत्र की शारीरिक रक्षा के अतिरिक्त अन्य भी कार्य हैं। एक अज्ञान अशिक्षिता नारी किसी भी कार्य का भलीभाँति सफलतापूर्वक संपादन नहीं कर सकती। वह अपने पति, पुत्र व परिवार की सम्मानित सदस्या न होकर केवल परिवार की गाड़ी खींचने वाली सेविका ही रह जाती है। दुर्भाग्यवश ऐसी रूढ़िवादी विचारधारा के कारण नारी का विरोध तीव्रतर होता जा रहा है। उसकी कोमलता, संवेदनशीलता, मृदुलता इस विरोध तथा कटुता की ज्वाला में भस्मसात

विकास नहीं हो पाता। नारी के इस पतन के लिए पुरुष कम उत्तरदायी नहीं है। हमारे नवयुवक और युवतियों को सही माने में पुरुष तथा नारी बनाने की परवाह ही नहीं रहती। वे अपने को तथा अपने जीवन सहचर को भी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से नहीं समझ पाते। वे पति पत्नी माता-पिता के भी उत्तरदायित्व को समझने का कष्ट नहीं करते।

हमें लड़के और लड़कियों को एक संतुलित शिक्षा-योजना के अन्तर्गत प्रशिक्षित करने का प्रबन्ध करना चाहिए। मानवी मूल प्रवृत्तियों को उन्हें समझाने की आवश्यकता है। मानवीय भावनाओं की आवश्यकताओं का क्रियात्मक मूल्य उनके समक्ष स्पष्ट होना चाहिए। आज हम यदि किसी लड़की से पूछें कि उसकी शिक्षा का कौन सा हिस्सा उसे नारी के सारे कर्तव्यों का बोध कराता है तो वह आश्चर्यान्वित हो उठेगी। सोचेगी वह स्वभावतः धीरे-धीरे विकसित होकर सारे कर्तव्य स्वतः सीख जायगी उसे उसको सीखने की क्या आवश्यकता है। हम एक ही पीढी में पूर्ण सुखी वैवाहिक जीवन का निर्माण तो नहीं कर सकते किन्तु उसके लिए प्रयत्न तो कर सकते हैं। तरुणवर्ग के लिए एक आध्यात्मिक वातावरण के निर्माण की आवश्यकता है। केवल ऐसे वातावरण में ही उन्हें स्वाभाविक प्रवृत्तियों के विकास का अच्छा अवसर मिलेगा। नारी को अपने को नारी के रूप सम्मानित करना सीखना चाहिए। तरुण वर्ग को अपने को मानव मात्र के रूप में सम्मानित करना सीखना अनिवार्य है।

प्रस्तुत परिच्छेद में आज के अव्यवस्थित परिवार की एक झलक, अव्यवस्था का कारण तथा उसके समाप्त करने के सम्भावित उपायों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। आगामी परिच्छेद में माता-पिता और बालक के विस्तृत सम्बन्धों पर विचार विमर्श करने का प्रयास किया जायगा। अव्यवस्थित परिवार शिशु के प्रति की जाने वाली निर्ममता का एक प्रमुख कारण है यह उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हो गया।

हमें न केवल अशिक्षित परिवारों की ओर ही ध्यान देना होगा वरन् शिक्षित परिवारों की ओर तो और भी अधिक ध्यान देना है। हमारी नवीन शिक्षा योजना के निर्माता भी इस ओर ध्यान देंगे ऐसी पूर्ण आशा है। गार्हस्थ्य शास्त्र का जो ज्ञान बालिकाओं को कराया जाता है वह अपने व्यावहारिक रूप में कितना अपूर्ण है इसका परिचय हमें गत वर्षों से प्राप्त हो रहा है। इसी प्रकार बालकों को शिक्षा में भी इस प्रकार की शिक्षा की कोई व्यवस्था न रहने से हमें कितनी हानि उठानी पड़ती है यह स्पष्ट है। अतः भावी शिशुओं को निर्ममता से बचाने के लिए, हमें भावी माता-पिता अर्थात् आज के युवक-युवतियों की तत्सम्बन्धी शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए।

———

माता-पिता और बालक

भारतीयों में बालकों को पहले चार क्रियाओं को सिखा देने की पद्धति थी। वे क्रियायें हैं शौचविधि, सत् आचार, अग्निकार्य तथा सन्ध्योपासन। ये क्रियायें तो बालक के थोड़ा वयस्क होने पर ही उसे सिखाई जा सकती हैं। शिशु को कभी भी तंग करना, खिझाना और धोखा देना न चाहिये। कड़वी दवा को यदि मीठी कह कर उसे पिलाया गया तो वह मीठी दवा भी भविष्य में खाने से इन्कार कर देगा। बाद के जीवन की रुचि शैशव में ही बनती है। शिशु को भूल कर भी भय से अभिभूत न होने देना चाहिये। उसके मन में पूर्ण आत्मविश्वास का भाव जगाना चाहिये। भयभीत बालिका को बहुधा आगे चल कर हिस्टीरिया रोग हो जाता है। दूसरी ओर बालक दुर्विनीतता और जड़ता सीख जाते हैं। माताओं के लिए शिशुपालन की शिक्षा का पाठ्यक्रम होना चाहिये। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि पिता वर्ग सर्वथा निर्दोष है। लेकिन माता का उत्तरदायित्व तथा अधिकार पिता की अपेक्षा अधिक है। वस्तुतः बालकों के लिए इतना कहा जाता है, इतना आदेश-उपदेश दिया जाता है कि उन्हें अपनी बुद्धि से कुछ करने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता। आज की परिस्थिति से वे विकल हो उठे हैं। वे क्या करें, क्या न करें इसका विवेक उनसे छीन लिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके मूलतः निष्कपट निश्छल तथा निर्मल व्यक्तित्व को मान्यता देने को कोई भी प्रस्तुत नहीं है। आज की सामाजिक परिस्थिति उसकी आर्थिक विषमताओं ने हमारे सम्पूर्ण जीवन को जर्जर, निष्क्रिय, निष्प्राण, अकर्मण्य तथा गतिहीन बना दिया है। इसके प्रभाव से हमारे शिशु भी अछूते नहीं हैं। अपने शिशुओं को उपदेश देते समय कदाचित् हम भूल

जाते हैं कि उन पर हमारे नित्य के आचरण तथा चरित्र का अधिकतम प्रभाव पड़ता है।

देश की स्वतन्त्रता के साथ यहाँ की जनता में नवीन इच्छाओं तथा आशाओं का प्रस्फुरण भी होना अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु यह आशा करना कि स्वतन्त्रता प्राप्त होते ही हमारी सारी समस्याएँ सहज ही मे एक साथ तुरन्त हल हो जायँगी, व्यर्थ है। शोषण, निर्ममता, उपेक्षा, उत्पीडन तथा इच्छाभिघात आदि एक दिन में किसी इन्द्रजाल से समाप्त नहीं हो जायँगे। बालकों के कोमल चित्त पर भी इस विषाक्त वातावरण का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ता है। उनकी सक्रिय प्रतिभा प्रति पल कार्य रूप में परिणत होने के लिए आग्रह करती रहती है। बालक एक ही दिन मे दो वायुमण्डलों में साँस लेता है। वह दो विभिन्न परिस्थितियों में पलता है। कहने का अभिप्राय यह है कि उसके लिए घर तथा बाहर एक-सा नहीं है। उसकी दिनचर्या एक सूत्र में बँधी नहीं है। वह किसी एक आदर्श से समन्वित अपने में पूर्ण नहीं है। ऐसी परिस्थितियों में हमारे बालकों के समक्ष कोई ऐसी शक्तिशालिनी प्रेरणा नहीं होती जो उन्हें तज्जन्य अन्तर्द्वन्द्व को भुला कर एक आदर्श प्राप्ति के लिए पागल बना दे। अथ से इति तक इन परिस्थितियों की चोट उन्हें प्रतिक्रियावादी बना देती है। उनकी चिन्तना-शक्ति पर एक आघात पहुँचता है। उनमे दृढ़ इच्छाशक्ति का उत्तरोत्तर अभाव होता जाता है और जब इस प्रतिक्रिया की क्रियात्मक अभिव्यक्ति होती है तो उसे हम अनुचित दुराचरण, अनुशासनहीनता आदि नामो से अभिहित करते हैं। वस्तुत. इसका उत्तरदायित्व बालक के माता-पिता पर ही आश्रित है जो उनकी भविष्य-रचना मे सक्रिय साधिकार योग देते हैं।

माता-पिता के आचरण की शुद्धता पर बालक का भविष्य बहुत सीमा तक आश्रित है। प्राचीनकाल मे इस देश मे भोजन, स्त्रीप्रसंग, गर्भाधान आदि सभी क्रियाएँ यज्ञ की कोटि मे आती थीं। ये सभी क्रियाएँ सोद्देश्य

होती थीं किन्तु ज्यों-ज्यों इस भावना का लोप हुआ माता-पिता का दुराचरण बढ़ता गया फलत. देश की संतान उत्तरोत्तर पतनोन्मुख होती चली गई। प्राचीन उपादेय ज्ञान का तिरस्कार करना आत्महत्या करना है तथा नवीन ज्ञान का स्वागत न करना अनौदार्य प्रकट करना है। दूसरों की श्रेष्ठ उपयोगी विचारधाराओं को न अपनाना आत्म-प्रवञ्चना है और जो उत्तम वस्तु अपने यहाँ है उसकी उपेक्षा करके दूसरों की विचार-धारा तथा सभ्यता को अपनाना 'वसुधैव कुटुम्बकम' के सिद्धान्त का दुरुपयोग करना है।

यदि माता-पिता के शरीर सूक्ष्म या स्थूल से ग्रसित हैं तो संतान पर भी उसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा। शरीर-शास्त्र के ज्ञाता यह भलीभाँति जानते हैं कि कितने ही रोग ऐसे हैं जो पीढ़ियों तक चलते हैं। उपदंश, मृगी, उन्माद, क्षय आदि के कीटाणु यदि माता-पिता के शरीर में विद्यमान हों तो उसका प्रभाव संतान पर निश्चित रूप से पड़ता है। माता-पिता के वर्ण, रूप तथा शरीर की कृशता अथवा स्थूलता का भी प्रभाव संतान पर देखा गया है। वेश-भूषा, भाव-संस्कृति, रुचि, आचार-विचार, आहार-विहार आदि बातों में भी संतान अपने माता-पिता का अनुसरण करती है। गर्भस्थ शिशु उदर में ही बहुत कुछ संस्कार ग्रहण कर लेता है और भूमिष्ठ होने के अनन्तर अन्य बातों को सहज ही में अपनाने लगता है। इस प्रकार ८०% बालक अपने जन्मदाता शरीरों की प्रतिमूर्ति होते हैं। वंश, जाति, वर्ण विभागों के मूल में यही तत्व है। अन्यथा इस प्रकार का वर्गीकरण दृष्टिगोचर न होता।

मनुष्य की मानसिक तथा आध्यात्मिक संपत्ति का उत्तराधिकार भी उनके आत्मजों को मिलता है। हम माता-पिता की धन सम्पत्ति एवं यश-अपयश के ही नहीं प्रत्युत्त उनकी आन्तरिक विशेषताओं के भी भागी होते हैं। अधिकांश शिशु अपने जन्मदाताओं के गुण, कर्म एवं स्वभाव के होते हैं। भारतीय वर्णव्यवस्था में इस तत्त्व को प्रमुख आधार मानकर

जन्म एवं वंश को प्रधानता दी गई है। आज वैज्ञानिकों ने भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त की पुष्टि की है। एक शरीर त्याग कर जीव जब दूसरे शरीर में जाने को उद्यत होता है, तब वह अपनी सञ्चित रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल स्थान को खोजता है। माता-पिता की जैसी आध्यात्मिक भूमिका होती है उसी के अनुरूप संस्कार वाले जीव उनके शरीर में प्रवेश करके उस वातावरण में जन्म लेते हैं। पर यह सर्वसम्मत नहीं और न यहाँ विचारणीय है। जो लोग स्वयं पतित दशा में हैं, उनका शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक पतन यदि हो चुका है तो उनकी संतान का भी दीनहीन होना आवश्यक है।

संतानोत्पादन एक महान् उत्तरदायित्व है, जिसे पूर्ण करने के लिए पूर्व तैयारी करने की आवश्यकता है। किसी महत्त्वपूर्ण कार्य के संपादनार्थ सभी आवश्यक उपकरणों को एकत्र करने की आवश्यकता पड़ती है। उसी प्रकार उत्तम संतान-प्राप्ति के लिए माता-पिता के संयम, नियम-पालन की अतीव आवश्यकता है। कहा गया है कि पतित संतानों के कारण उनके पूर्वजों को नर्कगामी होना पड़ता है। कारण स्पष्ट तथा उचित भी है। समुचित पूर्व तैयारी के अभाव में ही संतान की उत्पत्ति करना एक अत्यन्त जघन्य अपराध है। संतान की हीनता और नीचता से जो अनुचित निन्दनीय कार्य होते हैं उस अपयश के भागी तथा उत्तरदायी माता-पिता कम नहीं होते। क्योंकि वे सुयोग्य संतान उत्पन्न करने का अपना उत्तरदायित्व पूरा न कर सके अथवा उसमें सफल न हो सके। अनधिकार चेष्टा करने वालों की सर्वत्र निन्दा ही होता है। पशुओं की भाँति केवल काम-प्रेरणा से ही गर्भाधान में प्रवृत्त हो जाना और एक अलक्षण जीव उत्पन्न कर देना पाशविक प्रवृत्ति है। यह मनुष्यता के प्रति, देश और जाति के प्रति एक अपराध भी है। क्योंकि उनके पाशविक उद्देश्य के फलस्वरूप जो बालक जनते हैं वे संसार के प्रति अहितकर तथा उपद्रवकारी कार्य करते हैं। ऐसी सन्तान से संसार में अनीति तथा

अशान्ति की वृद्धि होती है। इस समस्त अव्यवस्था का उत्तरदायित्व उन माता-पिताओं पर है जो संतानोत्पत्ति जैसे महान उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य करने से पूर्व उसकी भावी संभावनाओं पर विचार नहीं करते। परिवार की कलह और क्लेश का कारण असंस्कृत संतान ही है। ऐसी संतान चरित्र में विलासप्रिय, स्वार्थी हो जाती है। वे माता-पिता और परिवार, देश, संस्कृत तथा मनुष्यता के लिए अभिशाप बन जाते हैं। कर्तव्यपरायण, शिष्टाचारी, सद्भावनापूर्ण, सेवामयी त्यागविभोर, आत्मीयता तथा सदाशयता से आप्लावित संतान आज हमारे लिए एक स्वप्न है। प्राचीन भारत इस दिशा में पर्याप्त उन्नतिशील रहा किन्तु आधुनिक भारत आज इस दिशा में सबसे अधिक पिछड़ा हुआ देश है। परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाने के कारणों में माता-पिता का अनुत्तरदायित्व सबसे बड़ा कारण है। वे सुयोग्य संतानोत्पत्ति के लिए आवश्यक योग्यता प्राप्त किये बिना इस भारी उत्तरदायित्व को कंधे पर उठा लेने का दुःसाहस कर बैठते हैं। इन्हीं भूलों के कारण हमारा पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन अत्यन्त विषाक्त बनता जा रहा है। माता-पिता को अपने शरीर का पूर्ण विकास कर लेने तक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। वासनापूर्ति नहीं प्रत्युत संतानोत्पत्ति के ही लिए काम-सेवन करना चाहिए। गृहस्थ जीवन में भी पूर्ण संयम का पालन करने से बलवान, नीरोग, बुद्धिमान तथा दीर्घजीवी संतान उत्पन्न होती है। परन्तु इस तथ्य को आज बहुत कम लोग जानते हैं और जो इससे परिचित भी हैं वे कार्य रूप में परिणत नहीं करते। यह देश का दुर्भाग्य ही है।

बालक केवल अस्थि मांस का पुतला ही नहीं है। उसमें अन्तश्चेतना का भी प्रमुख भाग रहता है। उस चेतना में माता-पिता की बौद्धिक चेतना का भाग सर्वाधिक होता है। यदि माता-पिता के मन में, मस्तिष्क में, अन्तःकरण में कुविचार, स्वार्थपरता, वासना, असंयम और अनुदारता की वृत्तियाँ भरी हुई हैं तो वे उसी रूप में या थोड़ा-बहुत परिवर्तित रूप

में बालक में भी प्रकट होती हैं। जैसे उपदंश रोग से पीड़ित स्त्री-पुरुषों के रजवीर्य से दूषित रक्त वाले बालक जन्मते हैं उसी प्रकार बौद्धिक एवं नैतिक दृष्टि से रोगी माता-पिता की संतान भी पतित मनोवृत्ति वाली होती है। व्यभिचारजन्य अथवा वर्णसंकर संतान बहुधा दुष्ट, दुराचारी एवं कुसंस्कारी होती है, क्योंकि उनके माता-पिता में पाप-प्रवृत्ति का प्राधान्य होता है। जिन पति पत्नी में परस्पर द्वेष, घृणा एवं मनोमालिन्य होता है प्रायः उनके बालक कुरूप और बुद्धिहीन होते हैं। डाक्टर फाउलर ने इस दिशा में बहुत-कुछ शोध-कार्य किया है। उन्होंने अपने प्रयोगों द्वारा बतलाया है कि बालक की अधिकांश विशेषताएँ उनके माता-पिता के द्वारा उन्हें मिलती हैं। शारीरिक दृष्टि से क्षीण माता-पिता के द्वारा उन्होंने उत्तम स्वास्थ्य की संतान उत्पत्ति का कारण दम्पत्ति का पारस्परिक सच्चा प्रेम बतलाया है। इसी प्रकार उद्विग्न मनोदशा के दम्पत्ति ने शारीरिक तथा सांसारिक दृष्टि से अच्छी स्थिति के होने पर भी रोगी तथा बुद्धिहीन संतान की उत्पत्ति की है।

डाक्टर जानफेनन ने मनोविज्ञान की दृष्टि से इस संबंध में विशेष खोज की है। वे अनेक उदाहरणों एवं प्रमाणों द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यदि माता-पिता सद्गुणी, कर्तव्यनिष्ठ और धर्मात्मा हैं तो उनकी शारीरिक अपूर्णताओं और विकास की अन्य सुविधाओं के अभाव में भी बालक उत्तम शरीर और मन वाले होते हैं। कभी-कभी जो प्रतिकूल अपवाद देखे जाते हैं उनमें भी मानसिक प्रतिकूलताओं को ही उन्होंने निमित्त कारण माना है। सज्जन पुरुष भी जब अनीति से पीड़ित होते हैं और उनके मन में प्रतिहिंसा धधकने लगती है तो उसके बुरे संस्कारों से बालक की मनोभूमि भर जाती है। इसी प्रकार कभी-कभी दुष्ट व्यक्ति भी उस परिस्थिति वश उच्च विचारधाराओं से भरे होते हैं तो उनका श्रेष्ठ प्रतिबिम्ब बालक होता है।

नीतिमान पवित्र एवं चरित्रवान् होना जीवन-यापन की सर्वोत्तम

नीति है। हमें अपने गुण, स्वभाव एव कर्म, को एक उचित दिशा की ओर विकसित करना चाहिए क्योंकि यही सफलता का श्रेष्ठतम मार्ग है। हम अपनी मनोभूमि, दृष्टिकोण, विचारधारा तथा कार्यपद्धति को उच्च आदर्शों से ओतप्रोत करें। आत्मनिर्माण करने से ही माता-पिता योग्य सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ हो सकते हैं। आज कुपात्र सतान की बाढ़-सी आई प्रतीत होती है। सत्पात्र सतति दुर्लभ प्रतीत हो रही है। इस विपन्न परिस्थिति को बदलने का सर्वोपरि उपाय नीति, धर्म, त्याग, तप, सेवा, संयम, पवित्रता एव सच्चाई से जीवन-यापन करना ही है। स्वयं उत्तम बनने से ही उत्तम सतानोत्पत्ति की आशा की जा सकती है। माता-पिता को यह ध्यान ही छोड़ देना चाहिए कि उन्हे बालक को कुछ सिखलाना है, सभी संभावित शक्ति से सपन्न होकर बालक जन्म लेता है। उस शक्ति का पूर्ण रूपेण उचित रूप मे विकास हो सके इसी के लिए अनुकूल वातावरण निर्माण कर देना ही हमारा कर्त्तव्य है। बालक के लिए माता-पिता को गभीरतापूर्वक मनन करना चाहिए और कुण्ठित होते तथा मुरझाते हुए हजारो-लाखों कोमल बालिकाओं के उचित प्रस्फुटन के लिए दृढ़निश्चय से आगे बढ़ना चाहिए।

यो तो ससार की जितनी विभूतियाँ हुई हैं अथवा होती हैं सब प्राय. अपने ही सिद्धान्तो और दृढ़ लगन से ही महान् होती हैं। किन्तु यह भी सत्य है कि उनकी महानता का अधिकतम श्रेय उनके माता-पिता को ही दिया जा सकता है। इतिहास के गौरवमय पृष्ठ इसके प्रमाण हैं। बालक में अनुकरण की प्रवृत्ति सर्वाधिक होती है। अत. इस विषय मे अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है क्योंकि उनकी हर अच्छी-बुरी आदतो का अनुकरण बालक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे करता है। उदाहरण के लिए हम एक घटना का उल्लेख यहाँ कर रहे हैं। एक बालक दीवाल मे लगे दर्पण के समक्ष झुक कर खड़ा होता था यद्यपि शीशा उसगे ऊँची जगह पर टँगा था। बाद मे एक मनोवैज्ञानिक

ने अपने अध्ययन द्वारा इसका कारण बतलाया कि उसका पिता कद मे लम्बा था और शीशा दीवाल में कुछ नीचा टँगा था अतः वह झुक कर बालों में कंघी करता था। बालक ने सहज ही मे इसका अनुकरण कर लिया।

कभी-कभी बालक ने परोक्ष रूप मे अपने माता-पिता के अनाचर को भी रोका है। एक नव दम्पत्ति अपने वृद्ध पिता को अत्यन्त कष्ट देते थे। नवयुवक का वृद्ध पिता इतना जर्जर हो गया था कि वह घूम-फिर न सकता था। वह एक कोठरी में जमीन पर पड़ा रहता था। भूमि पर बराबर पडे रहने के कारण बहुधा उसे दर्द की शिकायत हो जाती थी। दम्पत्ति ने उसे एक टूटी-फूटी खाट दी, वह बेचारा अपने भाग्य को कोसता हुआ उसी पर पडा रहता था। एक बार उस दम्पत्ति के छः वर्षीय पुत्र ने अपने माता-पिता से अत्यन्त निरीहता से कहा कि जब आप लोग बाबा की तरह बूढे हो जायँगे और मै बड़ा हो जाऊँगा तो आप लोगों को भी सोने को टूटा-फूटा खाट और खाने को रूखा-सूखा दूँगा क्योंकि आप लोग भी हमारे बाबा के साथ ऐसा करते हैं। यह बात दम्पत्तियो के मर्मस्थल को भेद गई। उन्होंने वृद्ध पिता से क्षमा-याचना की और फिर उन्हें कभी कष्ट नहीं दिया। स्वय सुधर जाना ही बालको को सुधारने का सर्वोपरि उपाय है। मुख्य बात यह है कि जिस आचरण की आशा हम बालको से करते हैं उसे पहले हमें अपने जीवन में उतारना होगा। अन्यथा हमारे उपदेशों, आदेशो का बालको पर कोई प्रभाव न पड़ेगा। इस कथन की पुष्टि के लिए सैकडों प्रमाण दिये जा सकते हैं। स्पष्ट है कि हमारे नित्य के आचरण का पूरा प्रभाव हमारी सन्तान पर पड़ेगा। बालक जब तक अबोध है वह अपने बडों का अन्धानुकरण करता है। अन्धानुकरण से अभिप्राय यह है कि उसके अनुकरण में विवेक का कोई हाथ नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह है कि उनका अनुकरण बडो के

आचरण के अनुकूल उनके लिए अभिशाप या वरदान बन सकता है। नित्य के जीवन में देखा गया है कि मानव-प्रवृत्ति दुर्गुणो को सद्गुणो की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से अपना लेती है। अतः इस ओर माता-पिता को अपने वालक के प्रति अधिक सतर्क रहने की आवश्यकता है।

छोटे-छोटे वालकों के जीवन, व्यवहार, अभिरुचि तथा क्रिया-कलाप का अध्ययन करने वाले मनोविज्ञानिको ने अत्यन्त विस्तार के साथ व्यापक सम्प्रेक्षणो और परीक्षाओ के द्वारा वालको की रुचि, प्रवृत्ति, इच्छा और आकाक्षा आदि का अत्यन्त गम्भीर अध्ययन, मनन और चिन्तन करके उनके परिणाम और कारणो का विवरण दिया है। उनका निष्कर्ष कहता है कि वालक की सपूर्ण क्रियाओ का आधार अनुकरण है। वह अपने चारो ओर नित्य के जीवन मे आने वाले लोगो का अनुकरण करता है। किन्तु इन समीपवर्ती प्रभाव डालने वाले व्यक्तियों मे सबसे अधिक प्रभावशाली माता-पिता ही होते हैं।

बहुत से माता-पिता अपने वालक को छोटी-छोटी वातो में दण्डित करते हैं, किन्तु यदि वे वालकों के अपराधो की शान्तिपूर्वक परीक्षा करें तो उन्हें ज्ञात होगा और इससे आश्चर्य भी होगा कि वालक ने अधिकाश अपराध उन्हीं से अनुकरण मे सीखे हैं अथवा उनकी किसी असावधानी, त्रुटि, दोप या दुर्वलता से वालक मे वे दोप आ गये हैं। माता-पिता को अपने आचरण में तीन प्रकार का सयम अर्जित करना चाहिए—

१—वाक्-सयम

२—स्वभाव-सयम

३—व्यवहार या आचार-सयम

वाक्सयम विश्व व्यापक सद्भावना का मूल है। वाक्सयम से तात्पर्य यह है कि माता-पिता को कुछ भी वोलने के पहले उसके औचित्य अथवा अनौचित्य पर विचार कर लेना चाहिए। वालक के

मानक अपशब्द का उच्चारण वर्जित है। बालक को आदर-सूचक शब्दों से सम्बोधित करना भी आवश्यक है। इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव बालक के मन पर अत्यन्त सुन्दर पड़ता है। डाँट-फटकार द्वारा बालक को सुसंस्कारयुक्त करने की आशा विडम्बना मात्र है। यह एक दुराशा मात्र है।

स्वभाव सुधार का तात्पर्य है माता-पिता को अपने प्रत्येक दुर्गुण और दुर्व्यसनों पर संयम कर लेना। पहले तो उन्हें प्रयत्न करना चाहिए कि वे उन दुर्व्यसनों का परित्याग कर दें. यदि किसी कारणवश यह सम्भव नहीं तो उन्हें अपने ऊपर कम से कम इतना संयम तो अवश्य ही कर लेना चाहिए कि वे अपने इन दुर्गुणों अथवा दुर्व्यसनों का प्रदर्शन अपने बालकों के समक्ष न करें।

मौलिक होने के नाते उसे दूसरे की प्रेरणामूलक क्रिया के अनुरूप काम करने मे उत्साह नही होता है। उसे अपनी चेष्टाओ के प्रदर्शन मे ही आनन्द मिलता है। स्वतन्त्रता के प्रयत्न और काम करने की आकांक्षा द्वारा ही शिशु अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। उसकी इस क्रियाशीलता मे प्रयोजन अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है। वस्तुतः वह इस क्रियाशीलता द्वारा अपने व्यक्तित्व की सर्वांगीण विकास-प्रक्रिया मे प्रगति करता है। वह यदि अपने व्यक्तित्व-निर्माण-कार्य मे बाधा का अनुभव करता है तो विपथगामी वन जाता है और उसकी अभिव्यक्ति वह निषेधात्मक लक्षणो द्वारा करता है। यह तो माता-पिता की कमजोरी है कि वे वालक को मनाने के लिए उसका कार्य कर देते हैं। ऐसा करते समय वे यह भी नहीं समझते हैं कि ऐसा करने से उनकी क्रियाशीलता कुण्ठित और मन्द पड़ जाती है। शिशु को काम करते रहने से ही आराम मिलता है, ऐसी धारणा डाक्टर माण्टेसरी की है। वह किसी भी समय वेकार बैठना नहीं चाहता। वह किसी विशेष उद्देश्य से नही प्रत्युत आनन्द और आराम प्राप्त करने के लिए ही काम करना चाहता है। आश्चर्य की वात तो यह है कि काम करने में वह किसी भी प्रकार की शिथिलता का अनुभव नही करता। वह थकना जानता ही नही। शिशु की आलोचना उसके समक्ष भूलकर भी नही होनी चाहिए। शिशु को आदरसूचक सम्बोधनो से बुलाया जाना अति उत्तम है। बच्चा जो कुछ कहना चाहता है उसे पहले सुनना चाहिए किन्तु यदि वह दूसरो की निन्दा करता है तो उसपर ध्यान नही देना चाहिए। बच्चों को भयभीत करना, अपमानित करना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। बच्चो के देख-भाल का भार यथासम्भव नौकरो पर छोड़ना उचित नही है। शिशु को प्रसन्नता से सबका अभिवादन करना सिखा देना चाहिए। शिशु यदि वार-वार सिखलाने पर भी कोई स्वभाव न छोड़े या कोई वात न सीखे तो उससे रुष्ट होना उचित नहीं है। यदि उसे दण्ड देना आवश्यक जान

रुठे तो प्रसन्नतापूर्वक उससे कह दीजिए कि अमुक कारण से उससे दो या एक घंटे आप नहीं बोलेंगे अथवा गोद में न लेंगे। अपने इस कथन का पालन दृढ़तापूर्वक कीजिए। इसका प्रभाव शिशु पर बहुत पड़ेगा। शिशु को एक साथ कई बातें बतलाना उचित नहीं है। उसे एक समय में एक ही बात अत्यन्त सीधे ढंग से बतलानी चाहिए। इस अवस्था में बालक में थूकना, छोटे कीड़ों को तंग करना, मुख या नाक में अंगुली डालना, बार-बार जननेन्द्रिय छूना आदि दोष आ जाते हैं। इन्हें धीरे-धीरे समझाकर दूर कर देना चाहिए। प्रायः बालक माता-पिता के भय के कारण झूठ बोलता है। अतः बालक को झूठे, चोर आदि अपशब्दों से सम्बोधित करना उचित नहीं है। बालकों के प्रश्नों का उत्तर उसके ज्ञान के अनुसार यथासम्भव शीघ्र और सही देना चाहिए। बालक को चिढ़ाने का कार्य किसी भी स्थिति में उचित नहीं है। बालक को अच्छे कार्य के लिए प्रोत्साहित करना भी श्रेयस्कर है। उनमें मिलनसारिता के स्वभाव का विकास करना चाहिए। बालक यदि किसी को मारे या गाली दे तो उसे तुरन्त रोक देना आवश्यक है। बालक के निरादर की इच्छा नहीं होनी चाहिए।

करने की इच्छा एक भयकर भूल है। शिशु के साथ मैत्री भाव रखना ही उचित है। बालक जो कुछ भी करता है, अपनी भावना से प्रेरित होकर करता है। उसके कार्यो को देखकर उसकी भावना का अनुमान किया जा सकता है। बालकों को जो कुछ कहा जाता है वह इतने महत्व का नहीं है जितना कि उसके कहने का तरीका। यदि यह तरीका ठीक नहीं है तो बालक के मन मे सन्देह तथा भय उत्पन्न हो जाता है। प्रयोग और अनुभव द्वारा ही चरित्र का विकास होता है। बालक को अन्वेषण का अवसर देना चाहिए। उसकी गलतियो तथा जिज्ञासाओ के लिए उसे दण्डित करना सर्वथा अनुचित है।

बालक आज्ञा क्यो नहीं मानता यह जानना जितना आवश्यक है उससे अधिक यह जानना आवश्यक है कि वह आज्ञा क्यो मानता है। सम्भव है वह बडो की शिक्षा को अच्छी समझता हो। परन्तु प्रायः यह देखा जाता है कि बालक भयभीत अथवा चाटुकारी अन्तर्प्रवृत्ति लेकर आज्ञा का पालन करता है। बालक को धमका कर उससे आज्ञा पालन कराना सर्वथा अनुचित है। बालकों के साथ हॅसना बुरा नहीं है किन्तु उनपर हॅसना बुरा है। उसके भय पर हॅसना उचित नही है। मूलतः उसमें कायरता नहीं है। किन्तु भय को दबाना नहीं प्रत्युत उसे समझाना चाहिए। क्योकि सच्चा कारण बतलाकर ही बालक के अन्तःकरण से भय को समाप्त किया जा सकता है। बालक के द्वारा लिंग सम्बन्धी किये गए प्रश्न का उत्तर उतना ही दिया जाना चाहिए जितना कि वे पूछें। जिस बालक मे यह जिज्ञासा न हो उसमें जिज्ञासा उत्पन्न करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। यदि प्रश्नो का उचित उत्तर देकर बालक को सतुष्ट न किया गया तो वह अन्य अवाछित लोगो से ऐसे प्रश्न पूछता फिरेगा जिसका परिणाम अत्यन्त भयकर हो सकता है।

उपर्युक्त परिच्छेद मे बालक और माता-पिता के सम्बन्ध पर सन्दे

में विचार किया गया है। बालक के विकास मे माता-पिता के उत्तरदायित्व को समझने की चेष्टा की गई है तथा माता-पिता को इस विषय मे कतिपय सुझाव भी दिये गए हैं। इन सुझावों की ओर यदि माता-पिता आकृष्ट हुए और यदि उन्होंने इन सुझावो को क्रियात्मक रूप दिया तो मेरा विश्वास है कि वे मूल समस्या बालक के प्रति निर्दयता को भली-भाँति हल कर लेंगे।

———

शिशु-शिक्षा—एक समस्या

आज की पाठशाला मे बालक अपनी शक्ति से परे शुल्क देकर, आत्मा का हनन करके तथा अत्यधिक धन का अपव्यय करके केवल भाषा-ज्ञान सीख पाता है। वह धर्म, शौर्य, कर्म तथा वीर्यविहीन होकर पतित हो जाता है। किंतु प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली की अपनी विशेषता थी, इसी में उसका गौरव था। कोमल अन्तःकरण के बालकों के लिए अब तक मेकाले शिक्षा उद्देश्य अभिशाप बना हुआ है। आधार की सबलता से ही आधेय की दृढ़ता होती है। आधारहीन आधेय की स्थिति ही असंभव है। शिशुओं का मानसिक धरातल प्रौढ़ तथा सबल नहीं होता है इसलिए वे स्वयं अपना निर्माण नहीं कर सकते। "माता शत्रुः पिता वैरी ये न बालो न पाठितः" इस कथन में शिशु-शिक्षा मे माता-पिता के दायित्व के महत्व की ओर संकेत किया गया है। प्राचीनतम काल से लेकर आजतक भारत में अध्यापन-कार्य एक पावन एव पुण्य कार्य माना गया है।

दुर्भाग्य से इस देश के लोग प्रायः बाल-शिक्षा का महत्व नहीं जानते। उनका विचार है कि कोई भी साधारण शिक्षक इस कार्य को सफलतापूर्वक कर सकता है। किंतु बालक की शिक्षा एक कठिन कार्य है जिसे हर शिक्षक सफलतापूर्वक नहीं निभा सकता। प्रत्येक बालक का अपना एक व्यक्तित्व होता है उसका विकास करना शिक्षक का प्रथम कर्तव्य है। बच्चे क्रियाशील होते हैं, अतः उनकी शिक्षा अधिकाधिक क्रियात्मक होनी चाहिये। एक ही नियत पाठ्यक्रम समान रूप से हर बालक के लिए उपयोगी नहीं हो सकता। प्रत्येक शिशु की अभिरुचि के अनुसार उसका पाठ्यक्रम तैयार होना चाहिये। शिक्षक का कार्य शिशु की

अन्तर्निहित शक्तियों को पहचान कर उनके विकास मे सहायता देना है। अत. शिशु-शिक्षा के लिए बालको से प्रेम करने वाले अनुभवी शिक्षकों की आवश्यकता है।

धीरे-धीरे एक शुभ चेतना के अन्तर्गत सभी राष्ट्र समझने लगे हैं कि शिशु समूचे राष्ट्र की सम्पत्ति हैं। अतः इस ओर भी उनका ध्यान आकृष्ट हुआ है। अतः उन्नतशील देशों मे शिशु पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता है। उनकी नर्सरी पाठशालाये तथा पार्क खोले गये हैं। ब्रिटेन में इस समय बालकों पर बड़ा ध्यान दिया जा रहा है। उन पर काफी व्यय राज्य की ओर से होता है। बालको को स्वस्थ रखने के लिए राज्य की ओर से नि.शुल्क पौष्टिक पेय तथा सन्तरे का रस मिलता है। शिशु के चरित्र की रूपरेखा अत्यन्त अल्पायु में ही बन जाती है। पाठशालाओं में केवल उनमें रंग भरना शेष रह जाता है ताकि उनका चरित्र-चित्र सुस्पष्ट रूप से उभर आये। बच्चों के लिए कोरा पुस्तक-ज्ञान यदि हानिप्रद नहीं तो लाभप्रद भी नहीं है। उन्हें शिक्षा खेल के ही द्वारा मिलनी चाहिये। शिशु-शिक्षा में वैज्ञानिक साधनों का अधिकाधिक उपयोग अपेक्षित है। बालक को अपने तथा समाज के साथ सम्बन्धों का ज्ञान आवश्यक है। उन्हें अपने देश का ज्ञान कराने के लिए पाठशाला की ओर से पर्यटन की व्यवस्था होनी चाहिये। शिक्षा की व्यवस्था में बालक का मुख्य स्थान होना चाहिये।

ठीक विपरीत आज की परिस्थिति है। वालक जो कुछ घर में देखता है वह उसे पाठशाला मे नहीं मिलता, जो पाठशाला मे पढ़ता है उसका नित्य के जीवन में कोई उपयोग नहीं है। अतः आज शिक्षा के इन तीन क्षेत्रों मे तनिक भी सामञ्जस्य नहीं है। प्राचीन तथा नवीन आदर्शों मे मूलतः अन्तर है। वर्णव्यवस्था समाज का अभिशाप वन चुकी है। सर्व-भेद वर्ग हीन समाज की स्थापना आज की सभ्यता का प्रथम लक्ष्य है। आधुनिक विज्ञान ने धार्मिक विश्वासो की जड़ें भी हिला दी हैं। सर्वत्र समानता तथा स्वतन्त्रता की अर्थहीन आवाज सुनने मे आ रही है, पर जीवन के लक्ष्य का मार्ग-दर्शक शिक्षा है। आजकल शिक्षा का लक्ष्य अर्थ-अर्जन ही रह गया है। धर्म, काम तथा मोक्ष का आज की शिक्षा मे कोई स्थान नहीं है।

प्राचीनकाल में शास्त्रीय शिक्षा आश्रमो, गुरुकुलो तथा विद्यापीठो मे होती थी। आज वही व्यवस्था अपने उसी रूप मे पुनः चलाना असभव है। इतिहास, भूगोल, कला, विज्ञान से अनभिज्ञ रह कर कोई भी वालक अपना कार्य नहीं चला सकता। प्राचीन तथा नवीन के समन्वय के भी प्रयत्न किये गये, किन्तु वे सफल नहीं हुए। गुरुकुल एव सस्कृत विद्यालय खोले गये, उनमे प्राचीन शैली को प्रश्रय दिया गया किन्तु वाध्य होकर उस प्राचीन शैली को परिवर्तित करना पड़ा। सरकारी नियत्रण मे आने के वाद उनमें कोई भी प्राचीनता शेष नहीं रही। सभी नवीनता के प्रवाह मे वह गईं। वर्तमान परिस्थितियो को समक्ष रखकर हमे कोई ऐसा मध्य मार्ग खोज निकालना होगा जिसमे प्राचीन एव नवीन का विवेकपूर्ण समन्वय किया जा सके। हमे पिछली असफलताओं से भय-भीत होने की आवश्यकता ही नहीं है। यदि हमारा मूल दृढ़ होगा तो हम उसके आधार पर किसी भी नवीन परिपाटी एव पद्धति का निर्माण सहज ही मे सफलतापूर्वक कर सकेंगे। आवश्यकता इस वात की है कि वालकों के मन मे अपने सास्कृतिक आदर्शों के प्रति दृढ़ आस्था तथा

श्रद्धा के संस्कार इस दृढ़ता के साथ छोड़े जायें कि वे आधुनिक सभ्यता के चकाचौंध में परिभ्रष्ट न हो सके। इस आदर्श की प्राप्ति के लिए हमें शिशुओं के पूर्व उनके अभिभावकों को सुधारना होगा। इस समय समाज मुख्यतः शिक्षित एवं अशिक्षित नामक दो वर्ग में विभक्त है। स्वभावतः शिक्षित वर्ग समाज का नेतृत्व करेगा और अशिक्षित वर्ग उनका अनुकरण करेगा। शिक्षित वर्ग भी दो विशिष्ट वर्गों में विभक्त है। एक है प्राचीनता प्रेमी तथा दूसरा है आधुनिकता प्रेमी।

आज की शिक्षा-प्रणाली द्वारा बालकों को प्राचीन संस्कृति का यथावत् ज्ञान नहीं दिया जा सकता। सभी विषयों पर भारतीय दृष्टिकोण से लिखी गई पुस्तकों की आवश्यकता है। साथ ही साथ अध्यापकों में उन्हें पढ़ाने की योग्यता एवं क्षमता होनी चाहिये। बालक स्वभाव से ही जिज्ञासु होते हैं। वे बड़े तर्क-वितर्क करते हैं। अपने पथ पर दृढ़ बनाये रखने के लिए उनके तर्कों का समुचित समाधान होना चाहिये। शिक्षा को शासन के अधीन बना देना सबसे बड़ी भूल है। प्रत्येक सरकार द्वारा प्रत्येक संस्थाओं को मान्यता मिलना अनिवार्य है। अतः इस मान्यता को प्राप्त करने के लिए बाध्य होकर हमें अपनी प्रणाली में परिवर्तन करना पड़ता है। क्योंकि सरकारी मान्यता के अभाव में वहाँ के पढ़े लोगों को सरकारी नौकरियाँ नहीं मिल सकतीं। अपनी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाने से शिक्षा शासन की दासी बन गई है। आज कोई भी शिक्षा-संस्था सरकारी संरक्षण के अभाव में नहीं पनप सकती। घर तथा पाठशाला के अतिरिक्त आजकल शिक्षा के साधन मुद्रणालय, रेडियो, सिनेमा, रंगमंच, सभा-समाज तथा अन्य आमोद-प्रमोद हैं। किन्तु दुर्भाग्य-वश ये सभी विपरीत दिशा में बह रहे हैं। इनके कारण समस्त समाज का ही वातावरण विषाक्त बन गया है। हमें अपने आदर्शों में स्वयं दृढ़ विश्वास नहीं है। आधुनिक शिक्षा की एक ओर तो हम आलोचना करते हैं दूसरी ओर बच्चे पढ़ाने को ऐसी पाठशालाओं में भेजकर हम उन्हें प्रोत्साहन

देते हैं। हम स्वयं अपने बालकों को गुरुकुल आदि में पढ़ने के लिए नहीं भेजते। उनकी असफलता का मुख्य कारण यही है। अधिकाश साहित्य ऐसा निकल रहा है कि वह हमारे विश्वासों, सिद्धान्तो तथा आचरणों के लिए घातक है। हमारी क्रियात्मक कठिनाई यह है कि जिन लोगों को प्राचीन शास्त्र आदि का ज्ञान है उन्हें आधुनिक लेखन-शैली का अभ्यास नहीं है और जिन्हें यह अभ्यास है, दुर्भाग्य से उन्हें शास्त्रों का ज्ञान नही है। फलतः पहले तो प्राचीन शैली के विद्वान कुछ लिखते नही और यदि लिखते भी हैं तो इतना प्रभावहीन होता है कि आधुनिक समाज पर वह चिकने घडे पर पानी का सा काम करता है। प्राचीन तथा नवीन शैली के चुने हुए विद्वानों को एक ही संस्था में लाने की आवश्यकता है। दोनों के सहयोग से कुछ कार्य किया जा सकता है। अनुसन्धान करके उच्च-कोटि के प्रमाणिक ग्रन्थो को अपनी तथा विदेशी भाषाओं मे निकालने की आवश्यक्ता है।

इसके अनन्तर पाठ्य पुस्तकों की समस्या सामने आती है। जैसी हम शिक्षा चाहते हैं उसके अनुकूल पाठ्य पुस्तकों के निर्माण तथा साथ ही योग्य एव क्षमतापूर्ण अध्यापकों की आवश्यकता है। प्रचार का आज सबसे बड़ा साधन प्रेस है। स्वस्थ साहित्य के प्रकाशन की बहुत बडी आवश्यकता है। मनोरजन द्वारा शिक्षा देने की भी पद्धति विलक्षण है। इस ओर भी समुचित ध्यान देना आवश्यक है। शिक्षण का उद्देश्य सुसस्कृत होना ही है। शिक्षा के द्वारा जीवन सुसस्कारों मे ढलता जाता है। बुद्धि का विकास, सुसस्कारों की वृद्धि एव कुसस्कारों का परिहार ही शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य है। परवर्ती जीवन का निर्माण बाल्यावस्था पर ही निर्भर करता है। यदि शिक्षण के द्वारा यह उद्देश्य सफल नहीं होता तो अवश्य ही उस पद्धति में दोष आ गया है। वर्तमान शिक्षण-पद्धति मे सदाचार तथा चरित्र-निर्माण के तत्त्वों का अभाव है यह हम प्रतिपल अनुभव करते हैं। पाश्चात्य शिक्षण पद्धति से हमे लाभ अवश्य हुआ है

किन्तु उससे हानि भी कम नहीं हुई है। इस प्रणाली के अन्धानुकरण की आवश्यकता नहीं है। उसमें जो उपादेय अश हैं उन्हे हमे निःसकोच अपना लेना चाहिये। बहुसख्यक अशिक्षित जनता को कामचलाऊ शिक्षा देना हमारा प्रथम कर्तव्य है। ग्रामीण शिक्षा को हमे अपेक्षाकृत आर्थिक दृष्टिकोण से सस्ती बनाना होगा। भारत की अधिकाश जनता ग्रामीण है। अतः उन ग्रामीण बालको को सुशिक्षित करना हमारा पुनीत कर्तव्य है। प्रारम्भिक शिक्षण यदि प्रान्तीय भाषाओं में ही हो तो अधिक अच्छा होगा। वर्तमान शिक्षा में समय तथा धन बहुत अधिक लगता है, अतः उस ओर भी इसे सुधारने की आवश्यकता है। हमारी शिक्षा में औद्योगिक शिक्षण का भी समावेश किया जाना चाहिये। शिक्षा का स्तर उत्तरोत्तर गिरता जा रहा है। बालक की अभिरुचि के अनुसार ही उसके शिक्षण का प्रबन्ध होना अति आवश्यक है। प्राचीन एव नूतन शिक्षा-प्रणालियों का विवेकपूर्ण समन्वय ही हमारी समस्या का हल है।

मानव-जीवन के लिए शिक्षा की आवश्यकता एक प्रमुख आवश्यकता है। मानव के अन्तःकरण मे शिक्षा के लिए अतृप्त पिपासा सदैव मचलती रहती है। मानव का आज तक का इतिहास इसका साक्षी है। जिस समय मनुष्य ने विकास-पथ पर अपना प्रथम लड़खड़ाता हुआ चरण रक्खा था उस समय भी यह प्यास उसमें थी और उस समय जब कि मानव ने अपनी आध्यात्मिकता एव भौतिक वस्तुओ पर विजय प्राप्त की, यह तृष्णा तीव्र रही। आज भी मानव जब विज्ञान द्वारा भौतिकता को पराजित करने मे सलग्न है, उसमें यह प्यास तीव्र है। मनुष्य में यह पिपासा इतनी तीव्र क्यो है? शिक्षा से ज्ञानार्जन होता है। मानव ज्ञान चाहता है। वह अपनी पूर्णता को व्याकुल है। इस पूर्ण विश्व की अनन्त और अमर प्यास लेकर वह शिक्षा की शरण में जाता है। वह स्वय अपने को और अपने इस विश्व को जानने के लिए व्याकुल है। पूर्णता ही मानव

जीवन का चरम लक्ष्य है। वह अपने जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त इसी लिए व्याकुल रहता है। इसके लिए वह अथक प्रयत्न करता है। उसका यह प्रयत्न जन्म-जन्मान्तर से चला आ रहा है और कदाचित् आगे भी चलता रहेगा। शिक्षा उसके मार्ग को सुदृढ़ और सरल बनाती है। वह अज्ञानमय तमाच्छादित राह पर एक पावन पुण्यमयी अमर ज्योति के रूप में मानव का पथ-प्रदर्शन करती है। साराश यह कि उसके लिए वही शिक्षा उपयोगी है जो उसे पूर्णता की ओर अग्रसर करती है। विश्व के कोने-कोने से मानव-जीवन का चीत्कार मुखरित हो रहा है। आज विश्व में अशान्ति, घृणा, द्वेष का ही आधिपत्य है। जब कि मानव सभ्यता के पथ पर अपनी तीव्रतम गति से दौड़ रहा है, विश्व की सरकारे जब करोड़ो रुपये शिक्षा पर जलवत् बहा रही हैं, बड़े-बड़े विश्वविद्यालय स्नातकों के टकसाल बन गये हैं तब मनुष्यों में इतनी आकुलता क्यो? यह एक विचारणीय प्रश्न है। ऐसा लगता है मानो शिक्षा में कोई मौलिक दोष आ गया है। दोषपूर्ण शिक्षा ही बालक की हत्या है।

हमारी आज की शिक्षा अपूर्ण एवं निःसार है। आज की शिक्षा में नैतिकता का सर्वथा अभाव है। इस अभाव के कारण ही आज की शिक्षा की असफलता दृष्टिगोचर हो रही है। हमारी बालशिक्षा अपूर्ण, अपर्याप्त है। आज की शिक्षा-प्रणाली पूर्णतया दोषपूर्ण है। वह देश की संस्कृति से विद्रोह करने के लिए कटिबद्ध है। यह देश का दुर्भाग्य है। बाल्यावस्था जीवन-शोध की आधार शिला है। बालक को पढ़ाने-लिखाने के लिए माता-पिता को स्वयं समय निकालना चाहिये। शिशु पालन पूरी तपश्चर्या है। बालक की पाठशाला में जाकर समय-समय पर कार्य का विवरण प्रधानाचार्य आदि से प्राप्त करना आवश्यक है। सन्तान को पूर्ण मानव बनाने के लिए उसकी शिक्षा का प्रबन्ध करना माता-पिता का पुनीत कर्तव्य है। उसका चारित्रिक, मानसिक, बौद्धिक एवं शारीरिक विकास सदशिक्षा पर ही आश्रित है। बालकों के एक देशव्यापी संगठन की

आवश्यकता है। शिक्षा का आदर्श शरीर को सशक्त, मस्तिष्क को उर्वर मन को पवित्र बनाना तथा आत्मा का विकास करना है। बालक को अधिकाधिक संवेदनशील तथा उदारचेता बनाने के लिए धार्मिक शिक्षा अनिवार्य है। इसके अभाव में ही देश के आदर्श, चरित्र एवं इच्छा-शक्ति का ह्रास हुआ। जो शिक्षा धर्म के आधार पर प्रतिष्ठित नहीं है वह मूर्खता से भी निकृष्ट है। शक्ति, ज्ञान, पवित्रता, चातुर्य एवं कला सीखने का माध्यम या साधन शिक्षा ही है। शिक्षा का उद्देश्य आदर्श जीवन की तैयारी ही है। जीवन से कुछ लेने की अपेक्षा जीवन को कुछ देने की भावना शिक्षा में सर्वोपरि होनी चाहिये। आधुनिक शिक्षा ने अपने को प्रायः मस्तिष्क और बुद्धि के विकास तक ही सीमित कर दिया है। आध्यात्मिक प्रकृति के अन्तर्दर्शन तथा भावना के उद्‌बोधन की सर्वथा उपेक्षा ही की जा रही है। वर्तमान बाल-शिक्षण-पद्धति ने न तो बालक के वास्तविक अभावों की पूर्ति की है और न कभी यह जीवन प्रदायिनी निर्माणकारी नैतिकता के लिए प्रोत्साहन का साधन बन सकी है। आज की शिक्षा हमारे बालकों एवं बालिकाओं के अन्तर्निहित गुणों का उद्भव एवं समन्वित विकास करने में पूर्ण रूपेण असफल सिद्ध हुई है। शिक्षा कोरी शाब्दिक है, उसमें व्यावहारिकता तनिक भी नहीं है। मानसिक प्रवृत्तियों एवं आदतों के परिष्कार एवं परिमार्जन में यह सर्वथा असफल हुई है। प्लेटो बाल-जीवन में संस्कारों और भावनाओं को अधिक महत्त्व देता है। उसके अनुसार प्रारम्भ से ही बालक पर दैवी संस्कार डालना चाहिये। इससे उसमें पवित्रता, शिवत्व, सत्यता और मानवता के भाव उदित होते हैं। उसका कथन है कि शिशु-शिक्षा का प्रारम्भ धर्मशास्त्र से होना चाहिये। इस धार्मिक शिक्षा को जितना अधिक ललित कलात्मक रूप में सामने रक्खा जा सके उतना ही अच्छा है। उसका विचार है कि साहित्य संगीत और कला प्रारम्भिक शिक्षा के आधार होने चाहिये। वह बालकों को आदर्शवादी कहानियों को भी सुनाने के

पक्ष मे था। इन कहानियो मे सौंदर्य भावनाओं की प्रधानता रहनी चाहिये। प्लेटो शिक्षा को क्रमिक विकास का साधन मानता है। यह एक प्रकार का अनुकरण ही है। उसके अनुकरण का दो अर्थ है, एक विशेष तथा दूसरा साधारण। साधारण रूप मे यह साहित्य के लिए प्रयुक्त हुआ है तथा विशेषकर यह उन आदर्शों के लिए प्रयुक्त हुआ है.जो बालको के समक्ष अन्य उपायो द्वारा आते हैं। उसके शिक्षण में सगीत को विशेष महत्व दिया गया है। क्योंकि यह आत्मा की ध्वनि है और इसके द्वारा मनुष्य का परिष्कार होता है, उसके सगीत-पद के अन्तर्गत साहित्य, कला, ज्ञान, ललित कलाये, ताल, लय, स्वर, धुन सभी आ जाते हैं अतः उसका सगीत-पद अत्यन्त व्यापक अर्थ रखता है। प्लेटो ने नाटक को शिक्षण में कोई स्थान नही दिया है क्योकि उसके द्वारा मिथ्याचार की ओर बालक प्रवृत्त होता है। अभिनय उसके अनुसार मिथ्याचार ही है। उसके कथनानुसार नाटक सत्य के अधिक करीब नहीं होता। शारीरिक विकास उसकी शिक्षण-प्रणाली का एक आवश्यक अग है। अतः हम देखते हैं कि प्लेटो के बाल-शिक्षण सम्बन्धी सिद्धान्त अत्यन्त उपायोगी हैं। उन्हे उचित रूप मे कार्य मे लाने से आज की शिक्षण-प्रणाली को हम एक निश्चित दिशा की ओर एक मोड़ दे सकते हैं।

चलचित्रो का सर्वश्रेष्ठ उपयोग इस देश की शिक्षा और विशेषकर बाल एव प्रौढ़ शिक्षा में किया जा सकता है। बालको की शिक्षा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जो वस्तु उन्हे याद कराई जाय वह यदि प्रत्यक्ष दिखलाई भी जाय तो तत्काल याद होगी। जिस वस्तु को जितनी अधिक इन्द्रियो द्वारा उनसे ग्रहण कराया जायगा उतना ही अधिक उनकी शिक्षा में उन्नति हो सकेगी। चलचित्रो का प्रभाव उनकी कर्णेन्द्रिय और नेत्रेन्द्रीय दोनो पर पड़ेगा। अतः जो ज्ञान इन दोनो के योग से उनके मस्तिष्क मे पहुँचाया जायगा वह तत्काल ग्राह्य होगा। इससे बालक के मनोरञ्जन के साथ उसके ज्ञान की अभिवृद्धि भी हो सकती है। साथ ही

साहित्यिक, धार्मिक, भौगोलिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक तथा व्यावसायिक शिक्षा सभी कुछ इस चलचित्र के द्वारा सहज ही में दी जा सकती है। योरप में इसका काफी प्रचलन है, किन्तु भारत में अभी इसका उपयोग पूरी तरह नहीं किया गया है। इस दिशा में कुछ प्रयास अवश्य किया गया है और उसमें अच्छी सफलता भी मिली है।

हममें सबसे अधिक भयानक प्रवृत्ति यह घर करती जा रही है कि वर्तमान से निराश होने पर हम भूत की ओर पलायन करते हैं। इसे हम आत्मघातक प्रवृत्ति कह सकते हैं। हमारी सभी समस्याओं का हल प्राचीन परम्पराओं ही में निहित नहीं है। उनसे हम थोड़ी-बहुत सहायता ले सकते हैं, किन्तु उनसे पूरी तरह हमारा काम नहीं चल सकता। मैं पूर्ण आत्मविश्वास तथा निष्ठा के साथ कह सकता हूँ कि हम किसी भी पूर्ववर्ती काल से आज उन्नत हैं। अनावश्यक रूप से निराशावादी होने का कोई अर्थ नहीं होता। मेरा यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम पूर्ण रूपेण उचित शिक्षण-प्रणाली चला रहे हैं। इसमें निश्चित रूप से परिवर्तन की आवश्यकता है। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में भी बालशिक्षा में निरन्तर सुन्दर प्रयोग हुए हैं।

उनके आत्मप्रकाशन का साधन बनाना चाहते थे। उनसे कहानी कहलाना और अभिनय भी कराना स्वप्रकाशन का एक अच्छा उपाय है।

माण्टसरी प्रणाली द्वितीय सर्वोत्तम प्रणाली है। इटली की विदुषी मैडम माण्टसरी इस प्रणाली की प्रवर्तिका हैं। यह प्रणाली भी बालक की स्फूर्ति बढ़ाने की समर्थक है। इस प्रणाली द्वारा बालक पढना-लिखना और समाज-व्यवहार की अनेक बातें खेल ही खेल में सीख जाते हैं। इस प्रणाली मे विशेष शिक्षा-सामग्री का आविष्कार किया गया है। इसमें बालक की इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति का वर्धन होता है। बालक की ज्ञानेन्द्रियाँ इससे अत्यधिक शक्ति प्राप्त कर तीव्र होती है। मैडम माण्टसरी अपने आविष्कार के पूर्व बेल्जियम में सेगार्वन महोदय के साथ अल्पबुद्धि के शिशुओ की शिक्षा का कार्य करती थीं। स्थूल पदार्थों द्वारा ही उनकी विचारशक्ति की वृद्धि की जाती थी। इससे ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तरोत्तर क्रियाशील होती गईं। जिस प्रकार अल्पबुद्धि वाले बालकों का ज्ञानवर्धन स्थूल पदार्थों के परिचय से कराया जा सकता है उसी प्रकार शिशु को स्थूल पदार्थ खेलने को देकर उसकी ज्ञानेन्द्रियो को उपयोग में लाकर तीव्रतर किया जा सकता है। मैडम माण्टसरी इस तर्क से अनुप्राणित थीं। अतः बालक को आकर्षित करने वाली तथा उसकी क्रीड़ा-इच्छा को तृप्त करने वाली सामग्रियो को ही मैडम माण्टसरी ने अपनी शिक्षा-प्रणाली का साधन बनाया। माण्टसरी पाठशाला में नन्हे-नन्हे शिशु विभिन्न क्रीडा-कलाप में मग्न देखे गये हैं। इनकी अध्यापिकाएँ उनकी क्रीडा-कलाप मे भाग लेती हैं और उन्हें प्रोत्साहित करती हैं। इस कारण यहाँ बालक कभी भी ऊबता नही। उसे यहाँ नित्य ही नवीनता प्राप्त होती है।

डाल्टन पद्धति तीसरी सुन्दर पद्धति है। इस प्रणाली की निर्मात्री कुमारी पारखर्स्ट एक अमेरिकन महिला हैं। आपकी प्रणाली डाल्टन

ध्यान के नाम से प्रसिद्ध है। बालक की स्वतन्त्रता तथा स्फूर्ति पर ही यह अधिक ध्यान देती है। मांटेसरी तथा डाल्टन पद्धति के सिद्धान्त मूलतः एक ही हैं। इस पद्धति में बालक शिक्षक द्वारा पशुवत् व्यवहृत नहीं होता। वह अपनी शक्ति के अनुसार शिक्षक से कार्य लेता है और उसे करके शिक्षक को दिखलाता है। वह जहाँ भी शिक्षक की आवश्यकता अनुभव करता है, वहीं पर शिक्षक से पूछता है। यह प्रणाली बालक को स्वनिर्भर और स्वावलम्बी बनाती है। अपनी शिक्षा का सारा भार शिशु स्वयं अपने ऊपर ले लेता है। वह स्वयं अपने कार्यों की विवेचना करके आत्मोन्नति करता है। उसमें आत्मनियमन की भावना बलवती होती है। इस प्रणाली द्वारा बालक में वे सभी गुण विकसित होते हैं जिससे वह भविष्य में एक सफल नागरिक होता है।

बालक—खेल और मनोरञ्जन

खेल हमारे जीवन में कुछ इतना घुल-मिल गया है कि खेल के लिए हम एक निश्चित परिभाषा नही दे सकते। किन्तु मनोवैज्ञानिको ने खेल को परिभाषा एवं वर्गीकरणों मे बाँधा है। खेल को मनोवैज्ञानिक भाषा में हम बालक की रचनात्मक कार्यकलाप की एक अभिव्यक्ति मान सकते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैक्डूगल ने खेल को एक अकेली प्रवृत्ति कहा है। किन्तु उनका यह कथन तर्कसम्मत नहीं है। खेल के द्वारा बालक अपने आपको वातावरण के अनुकूल बनाता है। प्राणीशास्त्र के अनुसार वह सोद्देश्य होता है। मानव जीवन में खेल का अपना महत्व होता है। खेल मानव जीवन का पूरक है। स्टर्न नामक एक दूसरे विद्वान ने खेल को स्वेच्छानुरूप आत्मसंयम की एक क्रिया ही बतलाया है। उसके अनुसार खेल जीवन के लिए अनिवार्य है। खेल के द्वारा मानव को आत्माभिव्यक्ति का पूरा अवसर मिलता है।

एक विद्वान का मत है कि कबड्डी से फुर्ती, आँख की ज्योति-वृद्धि और आत्म-रक्षा की शिक्षा मिलती है। खेल हम प्रसन्नता के लिए स्वतन्त्र रूप से खेलते हैं। खेल मे हमारा उद्देश्य कृत्रिम है। वह हमारी कल्पना की उपज है। ड्रीवर महोदय के अनुसार उद्देश्य खेल की प्रसन्नतापूर्ण हलचल के अधीन होता है। खेल मे उल्लासमय आनन्द अथवा आनन्दमय उल्लास की अनुभूति होती है। खेल एक क्रिया है जो स्वयं अपने लिए की जाती है और उसमे उद्देश्य का ध्यान नही के बराबर रहता है। काम एक ऐसी क्रिया है जो अपने अलग एक उद्देश्य के लिए की जाती है। खेल के विषय में भिन्न-भिन्न विद्वानो के भिन्न भिन्न मत हैं। शिलरस्पेंसर के कथनानुसार बालक मे आवश्यकता से अधिक शक्ति

भरी रहती है जिसे हम अतिरिक्त शक्ति कह सकते हैं। प्रकृति ने खेल द्वारा बालक की अवाञ्छित शक्ति को निकाल देने का प्रबन्ध किया है। इस सिद्धान्त से यह निश्चित रूप से स्पष्ट नहीं होता कि खेल किसी निश्चित धारा मे क्यों प्रवाहित होता है और थक जाने पर हम क्यो खेलते हैं।

लेजारस ने खेल को ताजगी का साधन माना है। लार्ड कन्स तथा पेट्रिक ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इनके कथनानुसार खेल बालकों में ताजगी लाता है। किन्तु काम की भाँति खेल मे भी शक्ति का व्यय निश्चित है। खेल के द्वारा हम जीवन की कठिनाइयो को कुछ समय के लिए भूल-से जाते हैं। खेल बालक के स्नायु-संस्थान के ताजे स्नायुओ को काम मे लाकर थके हुए स्नायुओं को विश्राम देता है ताकि वे अपने अन्दर एकत्र रासायनिक विषाक्त पदार्थ से निवृत्ति प्राप्त कर ले। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन पैलब्रॉच तथा गो [illegible] ने किया है।

की अभिरुचि चरवाहा जीवन की सुधि दिलाती है। सामूहिक खेल मानव के पूर्ण सामाजिक विकास को प्रकट करते हैं। स्टैनली ने अपने प्रथम सिद्धान्त का स्वय खण्डन अपने द्वितीय सिद्धान्त द्वारा किया है। उसके अनुसार बालक में जन्म के साथ ही इतनी अधिक अवांछित प्रवृत्तियाँ होती हैं कि यदि वे दूर न की जायँ तो संसार में एक भयंकर उत्पात खड़ा हो सकता है। अतः खेल द्वारा बालक अपनी प्रवृत्तियों का परिष्कार करता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक नन के कथनानुसार मानव अपनी प्राथमिक बुरी तथा निर्मम प्रवृत्ति से छुटकारा नहीं पा सकता, किन्तु खेल उसकी इस प्रवृत्ति की निवृत्ति का उत्तम साधन है। खेल के द्वारा मनुष्य उन प्रवृत्तियों को सामाजिक विधान के लिए प्रेरक महत्वपूर्ण शक्तियों के रूप में परिवर्तित करता है। नृत्य की भाँति खेल में भी चालक स्नायुओं का प्रयोग प्रधानतः होता है। जहाँ खेल का सम्बन्ध बुद्धि से अधिक तथा शरीर से कम होता है, वहाँ ग्रूस का सिद्धान्त अधिक शिक्षाप्रद एव सारगर्भित है। खेल में आत्मा तथा शरीर का समान योग होता है। बालक के मस्तिष्क तथा चरित्र के विकास को ध्यान में रखकर खेल का सर्वोत्तम उपयोग किया जा सकता है। खेलों का सहानुभूतिपूर्वक निरीक्षण किया जाना चाहिए, ऊपर से उनका नियन्त्रण उचित नहीं है।

जड॰ नामक एक अमेरिकन मनोवैज्ञानिक ने खेल के विकास की पाँच स्थितियों का उल्लेख किया है। जन्म से पाँच वर्ष तक शिशु अपने हाथ, पैर आदि अंगों का सचालन एक निश्चित गति से करता है। उसका खेल केवल उसके व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार हाथ-पैर चलाकर वह अपने शरीर के तन्तुओं को शक्ति-सम्पन्न करता है और इससे प्रसन्नता का अनुभव करता है। इस स्थिति में यह आवश्यक है कि उसे चमकीले खिलौने खेलने को दिये जायँ तथा ढीले वस्त्र पहनाये जायँ जिससे वह अवयवों का मनचाहा सचालन कर सके। अतिरिक्त शक्ति के

सिद्धान्तानुसार इन शारीरिक चेष्टाओं का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। बालक अपनी अतिरिक्त शक्ति से अपने को बचाना चाहता है। पाँच से आठ वर्ष की अवस्था में बालक में अनुकरणात्मक खेल खेलने की प्रवृत्ति तीव्र होती है। इस समय उन्हें सीधे-सादे खेल खेलने की सुविधा होनी चाहिए। आठ से बारह वर्ष की आयु में उनमें स्पर्धात्मक प्रवृत्ति तीव्र हो जाती है। उनमें आत्मश्लाघा की अन्तःप्रेरणा तीव्र होती है। यह प्रेरणा बालिकाओं की अपेक्षा बालकों में अधिक होती है। इस समय इस प्रेरणा का सदुपयोग अभिभावकों द्वारा किया जाना चाहिए।

बालक के व्यक्तित्व का सामूहिक विकास करने में खेल का अपना विशेष महत्व है। खेल का मुख्य लक्षण मिथ्या विश्वास की भावना है। कार्लग्रूस के सिद्धान्त के आधार पर बालक कल्पना के सहारे बहुत-सी अमूल्य बातें सीखता है। मिथ्या विश्वास के इन खेलों द्वारा आत्मश्लाघा की अन्तःप्रेरणा को प्रदर्शित करने का अवसर बालक को मिलता है।

वास्तविकता के झोंके से ढहने नहीं पाता। यह मिथ्या-विश्वास बालक के पूर्ण विकास का संदेश-वाहक है। वह उसे वातावरण के अनुकूल बनाने में सहायक होता है। आयु तथा शक्ति-वृद्धि के साथ-साथ स्वाभाविक रूप में इसका ह्रास होता जाता है। अभिभावकों को चाहिये कि वे बालक के मिथ्या-विश्वास का सदुपयोग करें। परियों की सुन्दर कलात्मक कहानियों के द्वारा उसे प्रोत्साहित किया जा सकता है। अभिभावकों को अपना दृष्टिकोण उदार एव व्यापक बनाने की आवश्यकता है। खेल मनोविनोद, शारीरिक विकास तथा जीवन-संघर्ष के लिए आवश्यक है। प्रकृति से समन्वय स्थापित करना भी खेल का ही कार्य है। खेलों का संबंध समाज-व्यवस्था से सीधा है। जीवन जितना कृत्रिम और व्ययसाध्य हुआ जा रहा है, खेल का ढग भी उसी गति से कृत्रिम और व्ययसाध्य हुआ जा रहा है। खेल के विषय पर विविध धारणाओं और उसके विकास की स्थितियों पर विचार करते हुए हमारा अभिप्राय यही है कि हमारे अभिभावक और बालक प्रकृति की इस प्रेरणा से लाभ उठाते हुए अपने दृष्टिकोण को अधिकाधिक उदार बनावें और चिर उपेक्षित बालक की प्रसन्नता के भागी बनें। अन्यथा वे बालक का जन्मसिद्ध अधिकार छीनेंगे।

खेल एक प्रकार की मूल प्रवृत्ति है जो उच्चवर्ग के सभी जीवधारियों में पाई जाती है। विकास-परम्परा में जिस प्राणी का जितना ऊँचा स्थान है, उतना ही अधिक उसके जीवन का काल खेल में व्यतीत होता है। मानव-बालक बहुत समय तक खेलता ही रह जाता है। आजकल तो वयस्क लोग भी खेल में अधिकाधिक रुचि लेने लगे हैं। उन्नतशील जातियों ने खेल के महत्व को भली-भाँति समझ लिया है और अब वे अपने जीवन में खेल को अधिकाधिक महत्व देने लगे हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक शीलर ने तो यहाँ तक भी कह डाला है कि मनुष्य का मनुष्यत्व खेलने ही में है। खेल एक स्फूर्ति एव प्रेरणापूर्ण क्रिया है। इसमें स्वतन्त्रता तथा प्रसन्नता का भाव सदा अक्षुण्ण बना रहता है। खेल बाल्य

होकर कदापि नहीं खेला जाता। बाध्य होकर खेला गया खेल, खेल न होकर कार्य की श्रेणी में आ जाता है। स्टर्न महोदय के कथनानुसार खेल एक स्वतन्त्र और स्वलक्ष्य कार्य है। हाँ, यह अवश्य है कि खेल में भी नियम होते हैं, पर ये नियम ऐसे हैं, जो खिलाडी स्वयं बनाते हैं। बालक खेल मे स्वेच्छा से ही शामिल होता है। खेल का पूरा आनन्द लेने के लिए ही वह अपने को नियमों द्वारा अनुशासित करता है। खेल में नियम-पालन का यही रहस्य है। सामूहिक खेल नियम-पालन के बिना सम्भव ही नहीं है। खेल की क्रिया का कोई लक्ष्य नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं है कि खेल लक्ष्यहीन क्रिया है। बालक खेलने को स्वतन्त्र है किन्तु प्रकृति बालक को खेलने के लिए बाध्य करती है। इसका कारण उसकी तीव्र प्रवृत्ति ही है। उसकी स्वतन्त्रता एवं विवशता में कोई विरोध नहीं है। प्राणीशास्त्र के अनुसार प्राणी के सभी कार्य लक्ष्यमय होते हैं। अपने

बबरता के सूचक हैं। किन्तु बालक के पूर्ण विकास के लिए ऐसे खेल भी आवश्यक हैं। खेल शक्ति प्राप्त करने का साधन है।

खेल के विभिन्न प्रकार हैं। खेल बालक के वातावरण, मानसिक अवस्था एव स्फूर्ति पर निर्भर करते हैं। ग्रामीण तथा शहरी बालक के खेल अलग-अलग होते हैं। वातावरण मे अनेक चीजे होती हैं उनमे वही वस्तुयें बालक के ध्यान को अपनी ओर आकर्षित करती हैं जो उसके मानसिक गठन एवं रुचि के अनुरूप होती हैं। बालकों के खेलों मे केवल वातावरण की भिन्नता के कारण ही भिन्नता नहीं होती प्रत्युत उनकी आयु, रुचि तथा लिङ्ग-भेद के अनुसार भी उनमे भिन्नता होती है। आधुनिक काल मे ऐसे कई एक खेलों का आविष्कार हुआ है जिनके द्वारा न केवल बालको के अंगो की पुष्टि होती हे वरन् उनके अनेकानेक मानसिक गुणों का विकास होता है। साथ ही साथ सगठित होकर काम करने की शक्ति आती है। भारतवर्ष के पुराने खेलो का प्रायः लोप हो गया है और ग्रामीण बालकों मे किसी प्रकार के नवीन खेलो का प्रचलन नहीं हुआ है। अत. इस देश के बालकों मे उन समाजोपयोगी गुणो का विकास नहीं होता जो योरप के बालकों मे पाये जाते हैं। आधुनिक खेलो मे गेंद का खेल सबसे उपयोगी खेल है। स्काउटिंग का खेल बालक को अनेक व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा देने मे समर्थ है। खेल का वर्गीकरण इस प्रकार से किया जा सकता है—

खेल— (१) वैयक्तिक (२) सामूहिक

वयक्तिक खेल—(१) शरीर से खेल (६ महीने से २ वर्ष तक)
(२) पदार्थ से खेल (,, से आगे ,,)

सामूहिक खेल—(१) अनुकरणात्मक खेल (३ से पॉच वर्ष तक)
(२) विचारात्मक खेल (,, ,, आगे तक)

पदार्थ से खेल—(१) ध्वंसात्मक खेल (२ वर्ष से चार वर्ष तक)
(२) रचनात्मक खेल (२ वर्ष से आगे)

विचारात्मक खेल—(१) सह खेल (पाँच से दस वर्ष तक)
(२) प्रति खेल (सात वर्ष से आगे)

रचनात्मक खेल—(१) अनुकरणात्मक खेल (तीन वर्ष से पाँच वर्ष तक)
(२) आविष्कारात्मक खेल (चार से ६ वर्ष और आगे)

बालक के प्रथम खेल अपने शरीर से ही होते हैं। इन सब खेलों के प्रति उसकी सहज प्रवृत्ति होती है। जब बालक का जीवन विकसित होता है और उसका संसार के विषय में ज्ञान बढ़ता है तब वह संसार के अनेक पदार्थों से खेलने लगता है। प्रारम्भ में वह अपने शरीर को ही खिलौना बना लेता है। अपने शरीर की भाँति वह अन्य पदार्थों पर भी अपना पूर्ण प्रभुत्व जमाना चाहता है। इसी इच्छा के वशीभूत होकर वह पदार्थों से खेलता है। किसी भी चीज को वह अपने मुँह में डालने की चेष्टा करता है। साथ ही साथ वह तोड़-फोड़ कर [illegible] उसका रूप परिवर्तन करना चाहता है। इसी इच्छा [illegible] एवं रचनात्मक खेलों का प्रादुर्भाव होता है।

छः वर्ष की आयु में बालिकाओं में भी इस प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव होता है। लड़कियों में अनुकरणात्मक तथा लड़कों मे आविष्कारात्मक प्रवृत्ति अधिक होती है।

बालक में अनुकरण की प्रवृत्ति तीव्र होती है। अतः उसके प्रारम्भिक खेल अनुकरण मात्र होते हैं। रचनात्मक खेलों में भी अनुकरण अधिक काम करता है। आविष्कारात्मक खेल में बालक नवीन बातों का आविष्कार करता है। बालकों के लिए अनेक प्रकार की खेल की सामग्री हमें एकत्र करनी चाहिये ताकि वे नये-नये खेल खेल सकें। इस प्रकार बालक की सृजनात्मक तथा रचनात्मक कल्पनाओं की वृद्धि होती है। यह अभिवृद्धि उसके भावी जीवन के लिए लाभप्रद होती है। उपर्युक्त सभी खेल वैयक्तिक हैं। खेलों के विकास के साथ-साथ बालक की कल्पना भी विकास करती है। कल्पना के अभाव मे खेल का अस्तित्व सम्भव नहीं है। अपने काल्पनिक विश्व मे बालक डाक्टर, सिपाही, दरोगा सब कुछ बन जाता है। बालिकायें अपनी गुड़ियों का विधिवत विवाह करती हैं। वे अपने खेल मे पूर्ण मातृत्व का अभिनय करती हैं। बालक का विश्व वयस्कों की भाँति रूखा-सूखा पूर्ण नीरस नहीं होता। इन स्वांगों के खेल से बालक उस वास्तविकता से परिचित हो जाता है जिससे अन्यथा परिचित होना असम्भव है। स्वांग रचने में प्रवीण बालक अत्यन्त प्रखर बुद्धि के होते हैं। प्रौढ़ व्यक्ति का स्वांग विक्षिप्तता की कोटि मे आता है, किन्तु बालक का स्वांग उसका मानसिक विकास है।

बालकों का प्रथम सामूहिक खेल अपने बराबर वाले बालकों के साथ नहीं होते। वे अपने माता, पिता, दादी आदि से खेलते हैं। किन्तु आयु-वृद्धि के साथ ही वह अपने समवयस्कों से खेलने लगते हैं। सहखेल मे बालक अनुकरण न कर केवल अपना पार्ट अदा करता है, किंतु प्रतिखेल में वह दूसरे दल के बालकों को हराने के उपाय सोचता है ताकि उसका

पक्ष विजयी हो। ऐसे खेलों में तीव्र बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। इससे उसकी आविष्कारात्मक प्रवृत्ति तीव्र होती है।

प्रस्तुत परिच्छेद में बालक के लिए खेल के महत्व का निरूपण किया गया है। हमारा प्रथम पुनीत कर्तव्य है कि हम बालक के लिए उसके उपयुक्त खेल के साधन तथा सामग्रियो को एकत्र करे और उन्हें प्रसन्न रक्खें। इसके अभाव में हम उनके प्रति निर्ममता तथा उपेक्षा बरतने के दोष के भागी बनेंगे, हम उनके मौलिक अधिकारों का अपहरण करेंगे और इस प्रकार सामाजिक अपराध करेंगे। आगामी परिच्छेद मे हम मूल प्रवृत्तियों पर विचार करेंगे। क्योंकि माता-पिता, अभिभावकों एव बालक से सम्बन्धित लोगों को बालक के प्रति निर्दयता करने से बचाने के लिए यह ज्ञान वाञ्छनीय है।

———

बालक का स्वाभाविक व्यवहार

मानवी मनोवृत्ति के तीन रूप होते हैं :—

(१) ज्ञानात्मक (Cognitive),

(२) क्रियात्मक (Conative) और

(३) भावात्मक (Affective)

मनोविज्ञान का अध्ययन इन्हीं मे से किसी एक रूप से प्रारम्भ होता है। साधारणतः मनोवैज्ञानिक मनोवृत्ति के क्रियात्मक रूप को लेकर अपना अध्ययन प्रारम्भ करते हैं। यूरोपीय मनोवैज्ञानिक अधिकतर ज्ञानात्मक रूप को ही महत्ता प्रदान करते हैं। इसके विपरीत अमेरिकन मनोवैज्ञानिक क्रियात्मक रूप से ही अपना अध्ययन प्रारम्भ करते हैं। मानवी चेतना का सबसे अधिक महत्वपूर्ण आधार उसकी नाड़ियाँ हैं। नाड़ियाँ दो प्रकार की हैं—

(१) ज्ञानवाही (Sensory) और

(२) क्रियावाही (Motor)

बालक के स्वभाव-निर्माण में उसकी सहज प्रतिक्रियाएँ (Reflexes) का बहुत बड़ा महत्त्व है। ये वे क्रियाएँ तथा प्रतिक्रियाएँ हैं जो शरीर-रक्षा के लिए समय आने पर अपने आप हो जाती हैं। इन सब प्रक्रियाओं में मस्तिष्क का कोई कार्य नहीं होता। दूसरी क्रिया हेतुपूर्वक क्रिया है। सहज क्रिया एकाएक और तुरन्त होती है। हेतुपूर्वक क्रिया मे विलम्ब लगता है। इसमें एक ऐसी मानसिक स्थिति या प्रवृत्ति उपस्थित रहती है जो एक निश्चित निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर उन्मुख रहती है। मानसिक क्रियाओं का साधारणतः वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है —

मानसिक प्रक्रिया (Reaction) :—

(१) हेतुरहित (Reflexes)

(२) हेतुपूर्वक (Purposive Reactions)

हेतुरहित (reflexes) —

(१) नियमित सहजक्रिया

(२) अनियमित सहजक्रिया

हेतुपूर्वक (Purposive Reactions) :—

(१) संवेगात्मक (Innate)

(२) जन्मजात (Instinctive)

(३) मूलप्रवृत्यात्मक

(४) अर्जित (Acquired)

अर्जित (acquired) :—

(१) अभ्यासात्मक (Habitual)

(२) विचारात्मक (Thoughtful)

तुरन्त आवश्यकता पड़ती है। इसमें विलम्ब प्राणघातक होगा। कतिपय शारीरिक क्रियाएँ ऐसी हैं जिनमें परिवर्तन करना पूर्णरूपेण असंभव है। बालक के पोषण की दृष्टि से इस विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। बालक के जीवन में ऐसी अनेक सहज क्रियाएँ होती हैं जिनके द्वारा उसकी रक्षा होती है। बालक में कुछ एक सहज क्रियाएँ जन्मजात होती हैं।

संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ भी जन्मजात होती हैं, किन्तु ये सहज क्रियाओं की भाँति नियमित नहीं होतीं। इन क्रियाओं में किसी लक्ष्य की उपस्थिति नहीं रहती। प्रबल पीड़ा या संवेग के काल की पीड़ा ही में संवेगात्मक क्रिया के दर्शन होते हैं। इन चेष्टाओं में न तो कोई नियम होता है और न कोई लक्ष्य की सिद्धि होती है। इसमें मनुष्य की शक्ति का केवल ह्रास होता है।

मूलप्रवृत्तात्मक प्रतिक्रिया हेतु-प्रतिक्रिया ही है। इनमें नियम है। ये सहज क्रियाओं की भाँति एक सी ही होती हैं किन्तु इनमें परिवर्तन सम्भव है। इन प्रतिक्रियाओं की भी प्रवृत्ति जन्मजात होती है। ये प्रतिक्रियाएँ विशिष्ट लक्ष्य से प्रेरित रहती हैं तथा लक्ष्य-प्राप्ति पर ये क्रियाएँ शान्त हो जाती हैं।

अभ्यासात्मक प्रतिक्रियाएँ सीखने से ही आती हैं। जब ये क्रियाएँ सीखी जाती हैं तो विचार उपस्थित रहते हैं किन्तु एक बार आदत पड़ जाने पर ये प्रतिक्रियाएँ स्वतः सहज क्रियाओं की भाँति अपने आप होने लगती हैं। ये प्रतिक्रियाएं आदत-जन्य होती हैं, किन्तु इसमें भी परिवर्तन किया जा सकता है। मूल प्रवृत्तात्मक प्रतिक्रियाओं की भाँति इसमें भी हेतु की उपस्थिति रहती है।

विचारात्मक प्रतिक्रियाएँ मनुष्य की विशेष क्रियाएँ हैं। इसमें हेतु की उपस्थिति रहती है और इसका ज्ञान भी प्रयत्न-कर्त्ता को रहता है। ये प्रतिक्रियाएँ निश्चित नहीं रहतीं। इनमें इच्छा की स्वतन्त्रता है।

मनुष्य इस प्रतिक्रिया द्वारा ही आदत डालता है। पहले-पहल तो ये क्रियाएँ कठिन रहती हैं, किन्तु आदत पड़ जाने पर सरल हो जाती हैं। मनु-पुत्र के अतिरिक्त किसी दूसरे जीव में इस प्रकार की प्रतिक्रयाएँ इतनी मात्रा में संभव नहीं हैं। इस दृष्टिकोण से प्रतिक्रियाओं का वर्गीकरण इस भाँति किया जा सकता है—

प्रतिक्रियाएँ :—(१) जन्मजात (२) अर्जित

जन्मजात :—(१) सहज संवेगात्मक (२) मूल प्रवृत्तात्मक

अर्जित :—(१) अभ्यासात्मक (२) विचारात्मक

शैशवावस्था तथा प्रौढ़ जीवन की प्रतिक्रियाओं की तुलना करने पर हमें ज्ञात होता है कि मनुष्य का अनुभव जैसे-जैसे बढ़ता जाता है उसकी सीखी हुई क्रियाओं की भी संख्या बढ़ती जाती है। जो अनुपात उसकी शैशवावस्था के समय उसकी जन्मजात और अर्जित प्रतिक्रियाओं में होता है उससे भिन्न अनुपात प्रौढ़ावस्था में होता है। यही मानव—जीवन की विशेषता है। अन्य जीवधारियों की सीखने की शक्ति परिमित है वे अपनी शैशवावस्था में ही सब कुछ सीख लेते हैं, किन्तु मनुष्य जीवन पर्यन्त कुछ न कुछ सीखता रहता है। उसकी सीखने की शक्ति अपरिमित है। मनुष्य-जीवन में उसकी आयु-परिवर्तन के साथ-साथ जन्मजात तथा अर्जित प्रतिक्रियाओं का अनुपात भी परिवर्तित होता रहता है।

कहने का तात्पर्य यह कि मनुष्य की समस्त क्रियाओं को हम केवल चार भागों में ही विभक्त कर सकते हैं।

(१) सहज क्रियाएँ
(२) मूलप्रवृत्तियाँ
(३) आदतें
(४) विचारात्मक क्रियाएँ।

इन दो प्रकार की क्रियाएँ हर प्राणी में [illegible] [illegible] में पाई जाती

हैं तथा पिछली दो क्रियाएँ मानव-जीवन में ही देखी गई हैं। बालक के जीवन में भी सहज क्रियाओं और मूल प्रवृत्तियों की ही विशेषता रहती है। इन्हीं दो क्रियाओं का प्राधान्य बाल्यजीवन में होता है। आयु वृद्धि के साथ-साथ पिछली दो क्रियाओं की प्रधानता बढ़ती जाती है। बालक की मूलप्रवृत्तियों और सहजक्रियाओं में इतना परिवर्तन हो जाता है कि हम उसकी प्रौढ़ावस्था में यह अनुमान भी नहीं लगा सकते कि बालक ने जन्म से किसी प्रकार की क्रियाशक्ति को प्राप्त किया है अथवा नहीं।

बालक तथा पशुओं के स्वाभाविक व्यवहारों की यदि तुलना की जाय तो ज्ञात होगा कि प्रकृति ने बालक को बहुत जरा सी शक्ति या प्रवृत्तियोग्यता दी है जिसके सहारे वह बिना सिखाये जीवन नहीं चला सकता है। वस्तुतः बालक के जीवन का विकास तथा उसकी सफलता शिक्षा पर ही निर्भर है। बालक अपनी साधारण तथा असाधारण सभी बातें दूसरों से सीखता है। मानव-शिशु शिक्षा के अभाव में जी नहीं सकता। बत्तक के बच्चे को कोई तैरना नहीं सिखाता किन्तु मानव-शिशु बहुत काल तक असहाय रहता है। जीवन के उपयोगी कार्य को सीखने में उसे बड़ा समय लगता है। वह जीवन पर्यन्त कुछ न कुछ सीखता ही रहता है। पशु-पक्षियों की भाँति बालक को अधिक नैसर्गिक शक्तियाँ नहीं प्राप्त हैं। मानव शिशु तो जीना भी नहीं जानता उसे जिलाया जाता है। अपनी इन सभी कमियों के बावजूद मनुष्य को कुछ ऐसी शक्तियाँ प्राप्त हैं जिनके बल पर वह सृष्टि के सभी प्राणियों पर अपना आधिपत्य जमा लेता है। यह क्षमता ही कदाचित् उसकी महानता है। उसे सीखने की अद्भुत शक्ति प्राप्त है। इसका आधार मूलप्रवृत्तियों की कमी है। यदि प्रकृति प्रारम्भ में ही उसे जीवनोपयोगी प्रवृत्तियां तथा योग्यताओं से सम्पन्न कर देती है तो उसके जीवन का विकास कुण्ठित हो जाता है। उसे नवीन चीजें सीखने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। साथ ही साथ

उसकी मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन असम्भव हो जाता है। मानवी मूल-प्रवृत्तियाँ परिवर्तनशील हैं। अतः बालक की मूलप्रवृत्तियों के आधार पर ही हम उसे अनेक जीवनोपयोगी वस्तुएँ सिखा सकते हैं। वातावरण तथा परिस्थिति के अनुसार मनुष्य अपने को बदल लेता है। इस योग्यता के अभाव में मानव पशुतुल्य है।

यह समझना कि बालक में नैसर्गिक कार्य करने की किंचित प्रवृत्ति नहीं है एक भारी भूल है। बालक में ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं किन्तु वे सभी परिवर्तनशील हैं। आयु तथा अनुभव वृद्धि के साथ इनका महत्त्व घटने लगता है तथा उपार्जित प्रवृत्तियों का महत्त्व बढ़ जाता है। सहज-क्रियाओं में कतिपय मनोवैज्ञानिकों के कथनानुसार परिवर्तन करना सम्भव नहीं है किन्तु कुछ लोगों का कथन है कि सहज क्रियाओं में भी परिवर्तन किये

यह सहज क्रिया विस्मृत कर चुका था। फलतः माता के स्तन से दूध भी न निकला। वह एक भयकर रोग का शिकार हो गई और स्त्री तथा बालक अकाल ही काल का ग्रास बन गये।

वाट्सन महोदय के कथनानुसार हमारा जीवन सहजक्रियाओ का पुज है। इसके अतिरिक्त मनुष्य के व्यवहार मे और कुछ नहीं देखा जाता। मैकडूगल तथा स्टाउट के कथनानुसार सहजक्रियाएँ अन्धी होती हैं। उनको हम क्रियाओ की गणना मे नही रख सकते। मूल-प्रवृत्तियो मे भी बुद्धि का कार्य रहता है। प्रौढ़ावस्था मे व्यक्ति की बाल्या-वस्था की सहज क्रियाओ का रूप परिवर्तित होता है। सहजक्रियाओ का परिवर्तन दो प्रकार से होता है—

(१) प्रभावहीन उत्तेजना को प्रभावशाली बनाना।

(२) उत्तेजना का जन्मजात प्रतिक्रिया के अतिरिक्त किसी दूसरी क्रिया से सयुक्त होना।

बहुधा वस्तुओ के प्रति आकर्षण की अपेक्षा विकर्षण ही देखा गया है। बालक का सीखना बहुत कुछ उसकी सहज क्रियाओं का परिवर्तन मात्र है। सीखने मे प्रभावहीन उत्तेजनाएँ प्रभावशील बन जाती हैं। जन्मजात प्रतिक्रियाओ को छोड़कर दूसरी प्रतिक्रियाओ से उनका सबध हो जाता है। शिशु जन्म से बहुत-सी चीजो से डरता है। उनके भय के तीन प्रमुख कारण हैं :—

(१) पीड़ा

(२) गिर जाने की सम्भावना और

(३) जोर के शब्द

किन्तु जैसे-जैसे इन कारणो का सबध अन्य उत्तेजनाओ से होता जाता है त्यो-त्यो ये उत्तेजनाएँ उसके लिए भयप्रद हो जाती हैं। बालको के भय भी दो प्रकार के होते हैं।

(१) जन्मजात भय (Inborn fear)

(२) अर्जित भय (acquired fear)
वाट्सन महोदय तथा अन्य व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि बालक की सभी क्रियाएँ सहजक्रियाओं के रूपान्तरण मात्र हैं। इस कथन से सहमत न होते हुये भी हमें इसमें काफी तथ्य दिखलाई पड़ता है। हाँ यह अवश्य है कि व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों ने मूलप्रवृत्तियों तथा सहज क्रियाओं के भेद को ताख पर रख कर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। क्रियाओं तथा सहजक्रियाओं पर इतना विचार-विमर्श कर लेने के अनन्तर हम मूलप्रवृत्ति की ओर अपना ध्यान आकर्षित करते हैं।

अरस्तू ने मनुष्य को विवेकशील प्राणी कहा है। वह वही काम करता है जिसका निश्चय उसका विचार कर देता है। मनुष्य के स्वभाव की यह व्याख्या इस तथ्य की पूर्णरूपेण उपेक्षा कर देती है कि विचारात्मक

(१) ज्ञानात्मक,
(२) वेदनात्मक, और
(३) क्रियात्मक,

मूलप्रवृत्ति का कारण मानव के जन्मजात मानसिक संस्कार हैं। ये संस्कार मानव-शिशु को परम्परागत वंशानुक्रम के अनुसार प्राप्त होते हैं। ये संस्कार मुख्यतः क्रियात्मक हैं। इन संस्कारो के चेतना मे आने के साथ ज्ञानात्मक तथा वेदनात्मक मनोवृत्तियाँ भी उपस्थित रहती हैं। मनुष्य की विशिष्ट क्रियात्मक प्रवृत्ति उसे विशिष्ट पदार्थों की ओर आकर्षित करती है। इस आकर्षण से मनुष्य को भली या बुरी वेदना होती है। इसके साथ ही वह उस कार्य में रत हो जाता है। रस्सी को साँप समझ कर भय खाना हमारी जन्मजात प्राण-रक्षा की मूलप्रवृत्ति है। मैकडूगल महाशय के कथनानुसार मनुष्य के ज्ञान और विकास की क्रियाओ का मुख्य आधार मूलप्रवृत्तियाँ ही हैं। अपनी मूलप्रवृत्तियो के अनुसार ही वह विभिन्न वस्तुओ मे अभिरुचि प्रदर्शित करता है। कुछ विद्वानो के कथनानुसार मनुष्य की रुचि का आधार उसका ज्ञान है, उसके ज्ञान मे विशेष प्रकार का परिवर्तन करके उसकी रुचि भी परिवर्तित की जा सकती है। किन्तु मैकडूगल महोदय के कथनानुसार मनुष्य की रुचि उसके ज्ञान पर आधारित नहीं है प्रत्युत उसका ज्ञान उसकी रुचि पर निर्भर है और वह रुचि मूलप्रवृत्तियो पर निर्भर है। अतः अपनी मूलप्रवृत्ति से प्राणी स्वतन्त्र नहीं है।

पशु-पक्षी एवं मनुष्य तीनो मे मूलप्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। किन्तु पशु-पक्षी तथा मनुष्य की मूलप्रवृत्तियो मे भेद है। वस्तुतः मानवी मूलप्रवृत्तियाँ आदत जैसी नहीं होतीं। वे पशु-पक्षियो की प्रवृत्तियो सी दृढ़ नहीं होतीं। उसकी नैसर्गिक आदतें उसकी आजीविका उपार्जन में तनिक भी सहायक नहीं होतीं। मानव की महानता उसकी नैसर्गिक आदतो की न्यूनता मे ही है। शिक्षा द्वारा वह सब कुछ सीख सकता है किन्तु पशु-पक्षी

की सीखने की शक्ति उतनी प्रबल नहीं होती। यदि मानव शिशु की नैसर्गिक आदतें दृढ़ होतीं तो वह उसमें परिवर्तन करने में समर्थ न होता। अतः उसमें सीखने की शक्ति भी न होती। मनुष्य की उपार्जित आदतें अधिक दृढ़ होती हैं। पशु-पक्षियों की मूलप्रवृत्तियाँ उनके जीवन-यापन के लिए पर्याप्त हैं। उनकी मूलप्रवृत्तियों में परिवर्तन करना अपेक्षाकृत कठिन है।

व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में सहज क्रिया और मूलप्रवृत्ति में कोई अन्तर नहीं है। मूलप्रवृत्तियाँ श्रृंखलाबद्ध सहज क्रियाएँ ही हैं। अथवा दूसरे शब्दों में अनेक श्रृंखलाबद्ध सहज क्रियाएँ ही मूलप्रवृत्ति हैं। हमारी कतिपय मूलप्रवृत्तियाँ सहज क्रियाओं की ही भाँति हैं किन्तु मूल-प्रवृत्तियों और सहज क्रियाओं में मौलिक भेद हैं:—

(२) भागना (Instinct of flight)	भय (Fear)
(३) लड़ना (Pugnacity)	क्रोध (Anger)
(४) उत्सुकता (Curiosity)	आश्चर्य (Wonder)
(५) रचना (Construction)	रचनात्मक आनन्द (Feeling of creativeness)
(६) संग्रह (Hoarding-instinct)	संग्रह भाव (Feeling of possession)
(७) विकर्षण (Repulsion)	घृणा (Disgust)
(८) शरणागत होना (Appeal)	करुणा (Distress)
(९) कामप्रवृत्ति (Pairing)	कामुकता (Lust)
(१०) शिशु रक्षा (Parental-instinct)	स्नेह वात्सल्य (Love)
(११) दूसरों की चाह (Social instinct)	अकेलापन का भाव (Feeling of loneliness)
(१२) आत्मप्रकाशन (Assertion)	उत्साह (Elation)
(१३) विनीतता (Submission)	आत्महीनता (Negative self feeling)
(१४) हँसना (Laughter)	प्रसन्नता (Amusement)

उपर्युक्त मूलप्रवृत्तियो को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) आत्म रक्षा संबंधी पहली आठ प्रवृत्तियाँ
(२) संतान संबंधी नवीं और दसवीं मूलप्रवृत्तियां
(३) समाज संबंधी शेष चार प्रवृत्तियो

हँसना प्राणी की ज्ञान-वृद्धि का परिचायक है। हँसी के द्वारा मनुष्य

अनेक सामाजिक दुखों से मुक्त हो जाता है। हँसी के अभाव में अनुभूति दुःख का कारण बन जाती है। हँसी प्रसन्नता को सूचित करती है। हँसी मनुष्यों में दुखों के प्रति साक्षीभाव उत्पन्न कर देती है। मनुष्य के अतिरिक्त दूसरा प्राणी नहीं हँस सकता। अत्यन्त दुख की अनुभूति के बाद उसे सहन करने के लिए हँसी की आवश्यकता पड़ती है।

उपर्युक्त चौदह प्रवृत्तियों के अतिरिक्त तीन सामान्य प्रवृत्तियाँ और हैं :—

(१) अनुकरण,

(२) सहानुभूति, और

(३) खेल,

नई प्रवृत्तियो का सदुपयोग न किया जाय तो बालक की ये प्रवृत्तियाँ शक्तिहीन हो जाती हैं। विलियम जेम्स ने इस कथन का समर्थन किया है। उत्सुकता की प्रवृत्ति नष्ट हो जाने पर बालक में सासारिक ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति लुप्त हो जाती है। बालको को उत्सुकता के बिना यदि कोई चीज बतलाई जाती है तो उनमें घृणा उत्पन्न हो जाती है। प्रसिद्ध फ्रासीसी दार्शनिक रूसो का कथन है कि बालक को जो बातें कल बतलाई जा सकती हैं उन्हें आज नहीं बतलाना चाहिये। इसका तात्पर्य बालक को गलत चीजें बतलाने से रोकने का है। बालक का. विकास तथा उसकी उन्नति वास्तव मे उसकी प्रवृत्तियो को बदलकर उसके अनुकूल बनाने से हो सकती है।

फ्रायड युग तथा•शोपनहावर के कथनानुसार प्राणी की सभी प्रकार की शक्तियो का उद्गम एक ही शक्ति है। वह शक्ति क्रमश. काम शक्ति, जीवन शक्ति तथा जीने की इच्छा है। सभ्यता का विकास मनुष्य की मूलप्रवृत्तियों के समुचित परिवर्तन पर ही निर्भर है। मूल-प्रवृत्तियों में पररिवर्तन निम्नलिखित चार रीतियो से हो सकता है:—

(१) दमन (Repression)

(२) विलयन (Inhibition)

(३) मार्गान्तरीकरण (Redirection) और

(४) शोध (Sublimation)

नियन्त्रण के अभाव मे मूलप्रवृत्तियाँ विनाशकारिणी हो जाती हैं। अनियन्त्रित सग्रह की प्रवृत्ति कृपणता तथा चोरी का रूप ले लेती है। ये प्रवृत्तियाँ यदि परिमित मात्रा मे रहें तो वह मानव के विकास मे सहायक होती हैं। द्वन्द्व प्रवृत्ति से क्रोध की अनुभूति होती है। क्रोध एक ध्वसात्मक सवेग है। इससे शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक हानि होती है। काम प्रवृत्ति के दमन के अभाव मे सामाजिक व्यवस्था असम्भव है। विवेक

द्वारा मूलप्रवृत्तियो का दमन किया जाना उचित है। व्यक्तित्व के विकास के लिए मूलप्रवृत्तियो का दमन उनके प्रकाशन की ही भाँति आवश्यक है। यह दमन भी जब आवश्यकता से अधिक हो जाता है तो वह अत्यन्त हानिकारक हो जाता है। दमन के द्वारा मूलप्रवृत्ति के प्रकाशन को रोका जा सकता है किन्तु उसे पूर्णरूपेण निर्बल नहीं बनाया जा सकता।

मूलप्रवृत्तियों के परिवर्तन का दूसरा उपाय विलयन है। विलयन दो प्रकार से किया जा सकता :—

(१) निरोध
(२) विरोध

मूलप्रवृत्ति को उत्तेजित होने का अवसर न देने से उसका निरोध होता है। एक प्रवृत्ति के कार्य में विपरीत प्रवृत्ति को उत्तेजित करने से विरोध होता है। विलियम जेम्स साहब का कथन है कि यदि किसी

नई प्रवृत्तियों का सदुपयोग न किया जाय तो बालक की ये प्रवृत्तियाँ शक्तिहीन हो जाती हैं। विलियम जेम्स ने इस कथन का समर्थन किया है। उत्सुकता की प्रवृत्ति नष्ट हो जाने पर बालक में सासारिक ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति लुप्त हो जाती है। बालको को उत्सुकता के बिना यदि कोई चीज बतलाई जाती है तो उनमें घृणा उत्पन्न हो जाती है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक रूसो का कथन है कि बालक को जो बातें कल बतलाई जा सकती हैं उन्हें आज नहीं बतलाना चाहिये। इसका तात्पर्य बालक को गलत चीजें बतलाने से रोकने का है। बालक का. विकास तथा उसकी उन्नति वास्तव मे उसकी प्रवृत्तियो को बदलकर उसके अनुकूल बनाने से हो सकती है।

फ्रायड युग तथा•शोपनहावर के कथनानुसार प्राणी की सभी प्रकार की शक्तियो का उद्गम एक ही शक्ति है। वह शक्ति क्रमशः काम शक्ति, जीवन शक्ति तथा जीने की इच्छा है। सभ्यता का विकास मनुष्य की मूलप्रवृत्तियों के समुचित परिवर्तन पर ही निर्भर है। मूल-प्रवृत्तियों मे पररिवर्तन निम्नलिखित चार रीतियो से हो सकता है:—

(१) दमन (Repression)

(२) विलयन (Inhibition)

(३) मार्गान्तरीकरण (Redirection) और

(४) शोध (Sublimation)

नियन्त्रण के अभाव मे मूलप्रवृत्तियाँ विनाशकारिणी हो जाती हैं। अनियन्त्रित संग्रह की प्रवृत्ति कृपणता तथा चोरी का रूप ले लेती है। ये प्रवृत्तियाँ यदि परिमित मात्रा मे रहे तो वह मानव के विकास मे सहायक होती हैं। द्वन्द्व प्रवृत्ति से क्रोध की अनुभूति होती है। क्रोध एक ध्वंसात्मक संवेग है। इससे शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक हानि होती है। काम प्रवृत्ति के दमन के अभाव मे सामाजिक व्यवस्था असम्भव है। विवेक

द्वारा मूलप्रवृत्तियों का दमन किया जाना उचित है। व्यक्तित्व के विकास के लिए मूलप्रवृत्तियों का दमन उनके प्रकाशन की ही भाँति आवश्यक है। यह दमन भी जब आवश्यकता से अधिक हो जाता है तो वह अत्यन्त हानिकारक हो जाता है। दमन के द्वारा मूलप्रवृत्ति के प्रकाशन को रोका जा सकता है किन्तु उसे पूर्णरूपेण निर्बल नहीं बनाया जा सकता।

मूलप्रवृत्तियों के परिवर्तन का दूसरा उपाय विलयन है। विलयन दो प्रकार से किया जा सकता :—

(१) निरोध
(२) विरोध

मूलप्रवृत्ति को उत्तेजित होने का अवसर न देने से उसका निरोध होता है। एक प्रवृत्ति के कार्य में विपरीत प्रवृत्ति को उत्तेजित करने से विरोध होता है। विलियम जेम्स साहब का कथन है कि यदि किसी प्रवृत्ति को अधिक दिनों तक प्रकाशन का अवसर न मिले तो वह प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। द्वन्द प्रवृत्ति के विपरीत यदि सहानुभूति तथा खेल आदि की प्रवृत्तियाँ उत्तेजित कर दी जाँय तो वह मन्द पड जाती है।

मार्गान्तरीकरण मूलप्रवृत्ति के परिवर्तन का तीसरा उपाय है। यह उपाय विलयन एवं दमन के उपाय से अधिक उपादेय है। दमन से मूल-प्रवृत्ति की जो मानसिक शक्ति संचित होती है उसका यदि उचित उपयोग न किया जाय तो वह आगे चलकर अत्यन्त भयंकर रूप धारण करती है। प्रवृत्तियों का उचित उपयोग ही मार्गान्तरीकरण का एक मात्र लक्ष्य है। बालकों में उपार्जन तथा संग्रह की प्रवृत्ति होती है। उनमें चित्र पुस्तके आदि एकत्र करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करना चाहिये।

कामप्रवृत्ति के मार्गान्तरीकरण को ही शोध कहते हैं। मार्गान्तरीकरण में मूलप्रवृत्ति का रूप परिवर्तन नहीं होता किन्तु शोध-कार्य में प्रवृत्ति का मूल रूप पूर्णरूपेण परिवर्तित हो जाता है। [illegible] ने [illegible]

इत्र बनना शोध ही है। बालक की काम-शक्ति का सदुपयोग उसका ध्यान साहित्य, संगीत एव कला की ओर आकर्षित करना है। कोरा दमन बालक के मन में अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न करता है।

परिच्छेद को विस्तृत होने के भय से हम इस विषय को यहीं छोड देते हैं, आगामी परिच्छेद मे बालक की मूलप्रवृत्तियों के विकास पर कुछ और विस्तृत रूप से विचार करेंगे।

———

बालक और मूलप्रवृत्तियों का विकास

गत परिच्छेद में मूलप्रवृत्ति, बालक के स्वाभाविक व्यवहार तथा उसके परिष्कार एवं परिमार्जन के उपायो पर विचार किया गया है। प्रस्तुत परिच्छेद में शिशु की विभिन्न मूलप्रवृत्तियों को लेकर हम यह दर्शाने का प्रयास करेंगे कि बालक के जीवन में उनका क्या महत्त्वपूर्ण परिवर्तन, परिष्कार एव परिमार्जन किया जा सकता है। बालक की शिक्षा-दीक्षा एवं उसके जीवन के उत्थान के लिए अभिभावकों को मूलप्रवृत्तियों के विकास-क्रम से भली-भाँति परिचित होना चाहिए।

बालक की उत्सुकता उसकी सर्वप्रथम प्रवृत्ति है। इसी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर बालक छोटी-मोटी चीजों को छूता, तोड़ता-फोड़ता है। भाषाज्ञान प्राप्त कर लेने पर वह अपने बड़ों से विभिन्न प्रकार के प्रश्न पूछता है किन्तु बहुधा माता-पिता उसकी जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने की अपेक्षा उसे डाँट देते हैं। उनके प्रश्नों का समुचित उत्तर देना अभिभावकों का प्रथम कर्त्तव्य है। यदि हम बालक को इस पर डाँटते हैं तो वह एक भयंकर भूल है। बालक की ज्ञान-वृद्धि मुख्यत. उसकी उत्सुकता की सन्तुष्टि पर ही आश्रित है। बालक में उत्सुकता तभी होती है जब किसी विषय का परिचय थोड़ा-बहुत उसे मिल जाता है। उत्सुकता सन्तुष्टि के अभाव में बालक का मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। बालक उसी बात को याद रख सकता है जिसके विषय में उसमें उत्सुकता तथा रुचि होती है। जब बालक किसी विषय में साधारण ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो वह उससे ऊबने लगता है। वह नवीनता की खोज करता है। नवीनता के अभाव में उस विषय में बालक की ज्ञानवृद्धि अवरुद्ध हो जाती है। अत उस विषय में कुछ और बताने के लिए हमें कुछ

नवीनता देनी होगी ताकि बालक विषय में रुचि ले सके। बालक की उत्सुकता परिवर्तनशील वस्तुओं से अधिक प्रभावित होती है। जिनके आकार तथा स्थिति में परिवर्तन होता रहता है उस ओर बालक का ध्यान अधिक आकर्षित होता है। अतः बालक को यदि चलचित्र द्वारा शिक्षा दी जाय तो वह अधिक लाभप्रद होगी। चित्तविश्लेषण-विज्ञान के अनुसार दमन की हुई उत्सुकता से उत्पन्न भावनाग्रन्थि ही कामुकता सम्बन्धी अनेक कुचेष्टाओं का एकमात्र, कारण है।

उपार्जन प्रवृत्ति बालकों में खूब पाई जाती है। जब शिशु किसी वस्तु को देखता है तो वह उस पर अपना अधिकार जमाना चाहता है। नन्हा सा शिशु प्रत्येक खिलौने को अपने पास रखना चाहता है। सात-आठ वर्ष का बालक अनेक छोटी-छोटी निरर्थक वस्तुओं को एकत्र करता है यह सब उसकी उपार्जन प्रवृत्ति है। किशोरावस्था तक यह प्रवृत्ति अत्यन्त वेगवती होती है। बालक की उपार्जन प्रवृत्ति का दमन न करना चाहिए उसे सन्मार्ग पर लगाना चाहिए, यह प्राकृतिक नियम के प्रतिकूल नहीं है। जिस बालक की इस प्रवृत्ति का अवरोध नहीं होता वह मनोविज्ञान के नियम के अनुसार कुछ काल के बाद जीवन की उपयोगी वस्तुओं को इकट्ठा करने लगता है। अभिभावकों का कर्तव्य है कि वे बालकों को ऐसी वस्तु एकत्रित करने को प्रेरित करें जिनसे उनका सांसारिक ज्ञान बढ़े। बालकों द्वारा डाक, टिकट तथा तस्वीरों को एकत्रित कराना उनकी संचिति शक्ति का सदुपयोग करना है। बालक की अवस्था के साथ-साथ उसकी इस प्रवृत्ति का विकास होता रहता है। यह विकास मनोविकास के साधारण नियमानुसार होता है। वह पहले वैयक्तिक तथा बाद में सामाजिक उपयोगी वस्तुओं का संचय करता है। आयु के साथ-साथ बालक की रुचि में भी परिवर्तन होने लगता है। इस प्रवृत्ति के दमन से प्रायः अवाञ्छनीय वासनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। कृपणता शैशव में दमन की हुई संचय प्रवृत्ति का परिणाम है। बालक के जीवन की छोटी-

छोटी वासनाओं से उसके जीवन का विकास हो सकता है। दमन से यह एक भयानक रूप ले लेती है। शैशव में जिस प्रवृत्ति का दमन किया जाता है उससे सम्बन्धित वासनाएँ तृप्ति न पाकर जीवन के विकास को अवरुद्ध कर देती हैं।

रचनात्मक प्रवृत्ति बालक की तीसरी अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है। बालकों में वस्तुओं के तोड-फोड़ के साथ उसमे उसे नवीन रूप देने की भी प्रवृत्ति होती है। बालक की प्रथम प्रवृत्ति वस्तुओं को हाथ में लेने की होती है। इस प्रवृत्ति को अवरुद्ध नहीं करना चाहिए। वस्तुओ को पकडने-उठाने से बालक को अपने अवयवों पर अधिकार प्राप्त होता है। साथ ही साथ उसका ज्ञानवर्धन भी होता है। रचनात्मक प्रवृत्ति का प्रारम्भ विनाशात्मक प्रवृत्ति है। रचनात्मक प्रवृत्ति बालक को वस्तु में नवीनता लाने को प्रेरित करती है। इस नवीनता लाने का परिणाम अच्छा तथा बुरा दोनों पड़ सकता है। इस प्रवृत्ति का सदुपयोग अभिभावकों पर निर्भर करता है। इस प्रवृत्ति को रोकना अत्यन्त हानिप्रद है। अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार माता-पिता को चाहिए कि वे बालको के लिए ऐसी क्रीड़ा—सामग्री एकत्र करे जिससे बालक की रचनात्मक प्रवृत्ति का सदुपयोग हो। इसमें बालक की भावना-ग्रन्थि पूर्णतया सुलझ जाती है।

कुछ बड़े होने पर बालक मे आत्मप्रदर्शन की प्रवृत्ति घर करने लगती है। वह दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना चाहता है। इस प्रवृत्ति से बालक की अत्यन्त उन्नति की जा सकती है। सम्मान पाने की इच्छा बालक में अत्यन्त तीव्र होती है। यह इच्छा आत्मप्रदर्शन प्रवृत्ति का ही परिवर्तित रूप है। आत्मसम्मान की भावना के अभाव में व्यक्ति महत्त्वाकांक्षाओं से शून्य रहता है। महत्त्वाकांक्षा के अभाव में वह कुछ भी नहीं कर सकता। बालक वर्ग में प्रधान होकर सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है। इसका उचित उपयोग न होने पर

इसका एक अत्यन्त विकृत रूप समाज के समक्ष आता है। जब बालक अच्छे कार्यों से अपने बड़े-बूढ़ों तथा साथियों का ध्यान आकर्षित नहीं कर पाता तो वह फिर उन्हें तंग करके उनका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता है। बालक अपने क्षेत्र में ख्याति चाहता है चाहे वह विख्यात हो अथवा कुख्यात। इस प्रवृत्ति के अभाव में बालक तेजहीन हतोत्साह हो जाता है। उसका व्यक्तित्व सुसंगठित एवं बलिष्ठ नहीं हो पाता, उसका जीवन शिथिल एव तेजहीन हो जाता है। बालक के सत्कार्य की सदैव प्रशंसा करनी चाहिए।

द्वन्द्व की प्रवृत्ति बालक में तब प्रस्फुटित होती है जब कि उसकी किसी उग्रप्रवृत्ति का दमन किया जाता है। ऐसी स्थिति में वह अवाञ्छनीय कार्य कर बैठता है। अभिभावक उसे उसके इस कार्य पर डाँटते-फटकारते हैं। किन्तु सदैव यह रुख अपनाना उचित नहीं है। ऐसा करने से बच्चों की आत्मा कमजोर हो जाती है। इस प्रवृत्ति का सदुपयोग सामाजिक कार्यों मे किया जा सकता है। इसके अभाव मे बालक कायर हो जाता है। कायरो का राष्ट्र कब तक अपनी खैर मना सकता है। एक दिन उसे शक्ति के मद से चूर दूसरे राष्ट्र के चरणों पर अपनी स्वाधीनता को समर्पित कर देना पड़ता है। वह अपमान तथा ग्लानि का जीवन व्यतीत करता है। इस द्वन्द्व प्रवृत्ति का नियन्त्रण विवेक से किया जाना चाहिए। इसके अभाव में हमारी अधोगति हो सकती है। बालक की द्वन्द्व प्रवृत्ति का उपयोग उसके जीवन के विकास मे किया जा सकता है।

विनय प्रवृत्ति आत्मप्रदर्शन प्रवृत्ति के सर्वथा प्रतिकूल है। इस प्रवृत्ति के द्वारा बालक को शिष्ट एवं सदाचारी बनाया जा सकता है। यह प्रवृत्ति वयस्कों के सम्पर्क मे आने से जाग्रत होती है। जो बालक के प्रति प्रेम रखते हैं बालक उन्हीं के प्रति श्रद्धा एव विनय का भाव रखता है। बालक निर्मम अभिभावकों के प्रति विनीत भाव नहीं होता। ऐसे

अभिभावक सदैव दमन करना ही अपना कर्तव्य समझते हैं। जिस शिक्षक का आचरण सुन्दर तथा दयालुतापूर्ण हो बालक उसी के प्रति अपनी श्रद्धा रखता है।

बालक की काम-प्रवृत्ति का अध्ययन अत्यन्त कठिन है। यह प्रवृत्ति प्राणिमात्र की एक प्रबल मूलप्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति बालकों में बहुत पहले जाग्रत हो जाती है। चित्तविश्लेषकों के कथनानुसार काम-प्रवृत्ति तथा प्रेम में कोई भेद नहीं है। चेष्टाओं में भले ही कुछ भेद हो, किन्तु सम्बन्धित संवेगों में कोई भेद नहीं होता। आकर्षण इस प्रवृत्ति का मूल-स्वरूप है। काम-प्रवृत्ति की मुख्य चार अवस्थाएँ होती हैं :—

(१) नार्सिस अवस्था,
(२) सम्बन्धियों से प्रेम,
(३) स्ववर्गीय बालकों के प्रति प्रेम, और
(४) भिन्न वर्ग के बालक से प्रेम

प्रथम अवस्था में बालक अपने आपको बहुत प्यार करता है। इसे नार्सिस अवस्था कहते हैं। नार्सिस नामक एक ग्रीक बालक जल में अपनी छाया देखकर इतना मुग्ध हो गया कि उसने उसी में अपने प्राण खो दिये। कामप्रवृत्ति की यह प्रवृत्ति शैशवावस्था में बहुत रहती है। काम-प्रवृत्ति की दूसरी अवस्था अपने सम्बन्धियों से प्रेम करना है। इस अवस्था में बालक अपनी जीविका से सम्बन्धित लोगों से प्यार करता है। फ्रायड महोदय के कथनानुसार बालक अपनी माता से भी प्रेमिका का सा प्यार करता है। इस कथन की मैक्डूगल आदि वैज्ञानिकों ने पर्याप्त भर्त्सना की है। इसकी सत्यता में भारतीय मनोवैज्ञानिकों का किञ्चित विश्वास नहीं है। स्ववर्गीय बालक से भी बालक का अत्यन्त प्रेम रहता है। यह अवस्था किशोरावस्था तक आती है। बालक अन्य वर्गीय बालक से भी प्रेम करता है। यह कामप्रवृत्ति की चौथी स्थिति है। इस समय बालक का

बालिका की ओर तथा बालिका का बालक की ओर विशेष आकर्षण होता है। इस समय कामप्रवृत्ति अपनी चरमावस्था तक पहुँचती है। कामप्रवृत्ति की यह चारो अवस्थाए जीवन-विकास के लिए अति आवश्यक हैं। इस प्रवृत्ति का सदुपयोग अभिभावको के विवेक पर आश्रित है। प्रेम का वातावरण बालक के विकास मे आवश्यक है किन्तु अभिभावको को सचेत रहना भी आवश्यक है। इस प्रवृत्ति का दमन न करके उसका सन्मार्ग पर लगाना अभिभावको का प्रथम कर्तव्य है। बालक की कामप्रवृत्ति की शक्ति को कला, कविता, चित्रकारी तथा नाटको की ओर उन्मुख कर देना चाहिए।

अनुकरण बालक की एक अन्य प्रवृत्ति है। यदि सच पूछा जाय तो यह प्रवृत्ति प्राणिमात्र में होती है। बालक की अधिकाश क्रियाएँ अनुकरण ही हैं। अनुकरण का मानव-जीवन मे बहुत बड़ा महत्व है। जेम्स के कथनानुसार अनुकरण तथा आविष्कार मानव के दो पैर हैं जिनपर वह चलता है। पुरातन संस्कृति की रक्षा तथा नवीन विश्वासो का प्रचार इसी के आधार पर होता है। समाज के रीति-रिवाजो मे प्राचीन अनुभव ही कार्य करता है। विवेकजन्य अनुकरण सर्वथा लाभप्रद होता है। मनुष्य की हानि अन्धानुकरण से होती है। अनुभव एव अनुकरण से नयी चीजो का ज्ञान प्राप्त होता है। बालक मे अनुभव कम अनुकरण अधिक होता है। बालक की तीव्र अनुकरणात्मक प्रवृत्ति उसके जीवन मे अत्यन्त सहायक होती है। बालक स्वतः अपनी स्फूर्ति से ही अनुकरण करता है। दो-तीन साल के शिशु का अनुकरण उसका खेल बन जाता है। छडी को घोड़ा बनाना, चोर, सिपाही आदि का खेल उसकी इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। अनुकरण के मुख्य दो प्रकार होते हैं :—

(१) स्फूर्तिपूर्ण अनुकरण,

(२) विचारपूर्ण अनुकरण।

स्फूर्तिपूर्ण अनुकरण बालक में अधिकाश मात्रा में पाया जाता है।

प्रायः सहज अनुकरण की प्रवृत्ति के प्रवाह मे हम पूर्णरूपेण निमग्न हो जाते हैं। यह अनुकरण बहुधा अन्धानुकरण या विवेकशून्य अनुकरण होता है। एक धारा प्रवाह से मुक्त अनुकरण के औचित्य तथा अनौचित्य पर विचार करने वाला विवेकजन्य अनुकरण विचारपूर्ण अनुकरण कहलाता है। बालक मे इस अनुकरण की योग्यता कम रहती है। इसके दो कारण हैं—

(१) विचारशक्ति का अभाव

(२) मन की चपलता।

अतः बालक का जीवन प्राय. सहज अनुकरण द्वारा ही सचालित होता है। अनुकरण की गति के मुख्य तीन नियम हैं—

(१) ऊपर से नीचे की ओर,

(२) सक्रामकता, और

(३) अन्दर से बाहर की ओर प्रवाहित होना।

प्रथम नियम के अनुसार सदैव अनुकरण बड़ो से छोटो द्वारा होता है। जो व्यक्ति बड़े होते हैं, छोटे उनका अनुकरण करते हैं। अपने अभिभावकों का अनुकरण बालक करता है। अत. अभिभावकों का सदाचारी होना अति आवश्यक है। अनुकरण का दूसरा नियम उसकी संक्रामकता है। मनुष्य अनजाने मे ही अनुकरण करने लगता है। महान् व्यक्तियों का अनुकरण अत्यन्त तेजी से होता है। अनुकरण द्वारा क्रियाओं के प्रकाशित होने के पूर्व मनुष्य के विचारो में स्थान बना लेता है। इसे अनुकरण का तीसरा नियम कहा जा सकता है। महत्वाकांक्षी व्यक्ति स्वार्थी होकर भी समाज की सेवा करता है, क्योंकि उसकी उन्नति से सभी उसका अनुकरण करके अपने को उन्नतिशील बनाते हैं।

बालक के मन पर अभिभावकों को ऐसे संस्कार डालने चाहिये जिससे वह अयोग्य व्यक्तियों का अनुकरण न कर सके और योग्य व्यक्तियों का अनुकरण करने को सदैव तत्पर रहे। [illegible] का अनुकरण करने के

पूर्व बालक की मनःस्थिति को तदनुकूल बनाना आवश्यक है। अनेक प्रकार के निर्देशों से बालक की मनःस्थिति अनुकूल बनाई जा सकती है। इसके अभाव मे बालक के मन मे विपरीत अनुकरण करने की प्रवृत्ति जाग्रत होती है। बालको की शिक्षा मे अनुकरण का एक बहुत बड़ा महत्व है। माटेसरी की शिक्षा-प्रणाली मे इस पर विशेष जोर दिया गया है। विचारजन्य अनुकरण बालक मे शनैः-शनैः विकसित होता है, आदतो के निर्माण मे अनुभव एव अनुकरण का प्रधान स्थान है। स्पर्धा भी अनुकृति का एक रूप है। वस्तुतः अनुकरण निर्देश का ही कार्य है। निर्देश मे एक विचार दूसरे विचार को अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करता है। दूसरे की क्रिया से प्रभावित होकर स्वय वही कार्य करने लगना अनुकरण है।

जीवन-विकास मे स्पर्धा का एक महत्वपूर्ण स्थान है, बालक अपनी तुलना सदैव दूसरे लोगो से करता रहता है और इसी के कारण वह दूसरो से आगे बढ़ने के लिए सचेष्ट रहता है। अपने से अधिक योग्य का वह अनुकरण करता है, किन्तु वह अपने समान बालक से स्पर्धा का भाव रखता है। स्पर्धा स्वभावतः हमारे अन्दर वर्तमान है। स्पर्धा अनुकरण की प्रवृत्ति मे भी है। अनुकरण तथा स्पर्धा मे अन्तर अवश्य है, किन्तु दोनो मे समानता भी बहुत है। स्पर्धा की प्रवृत्ति मे तीन प्रवृत्तियो का सम्मिश्रण है—

(१) अनुकरण प्रवृत्ति,

(२) द्वन्द्व प्रवृत्ति तथा

(३) आत्म-प्रदर्शन प्रवृत्ति।

यह दूसरी प्रवृत्तियो की भाँति जीवनोपयोगी प्रवृत्ति है। स्पर्धा का दमन अनावश्यक है। विश्व के ९० प्रतिशत प्रशसनीय कार्यो का श्रेय इसी प्रवृत्ति को है। इस प्रवृत्ति का बालक मे होना नितान्त आवश्यक है। इससे बालक उत्तरोत्तर उन्नति करता है। बच्चो मे प्रतियोगिता की भावना

बढ़ाने से इस प्रवृत्ति का सदुपयोग हो सकेगा। बालक की स्पर्धा जब उग्र होती है तो वह उससे श्रेष्ठतम कार्य कराती है पर इस प्रवृत्ति की अति भी हानिकारक होती है। स्पर्धा ही प्रतियोगिता की जननी है। स्पर्धा जब अपरिमित होती है तो उसमें ईर्ष्या-द्वेष पनपने लगता है। फलतः अपनी उन्नति भूलकर वह दूसरों का अहित सोचने लगता है। स्पर्धा के ये मुख्यतः चार रूप होते हैं—

(१) सामूहिक स्पर्धा,
(२) आत्म स्पर्धा,
(३) सात्विक स्पर्धा, और
(४) निकृष्ट स्पर्धा

न्पेरण शून्य है। जब तक शिशु में किसी व्यक्ति के शारीरिक चेष्टाओं के प्रेरक भावों तक पहुँचने की शक्ति नहीं रहती तब तक वह निर्देशित नहीं हो सकता। निर्देशक के प्रभाव में आना मनुष्य की मानसिक दृढ़ता अथवा दुर्बलता पर निर्भर है। विवेक, आत्म-निश्चय तथा अनुभव-परिपक्वता के अभाव में ही व्यक्ति निर्देश से प्रभावित होता है। बालक के जीवन में निर्देश का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। विवेक, आत्म-निश्चय तथा अनुभव में अपरिपक्व होने के कारण बालक दूसरों के प्रभाव में अधिक रहता है। उसमें सत्-असत् का निश्चय करने की शक्ति नहीं रहती। वह तर्क नहीं कर सकता। कल्पना-शक्ति की तीव्रता के कारण वह सहज ही में निर्देश को ग्रहण कर लेता है। बालक को समीप रहनेवाले सभी व्यक्तियों से निर्देश मिलता है। अतः यदि उनका वातावरण ठीक होता है तो वह भी उचित ढग से निर्देशित होता है।

निर्देश का प्रभाव तथा प्रवाह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की ओर होना है। निर्देश दो प्रकार से होता है—

(१) जानबूझ कर तथा

(२) अनजान में।

बालक हमारे अनजाने में ही हमसे निर्देशित होता है। इस प्रक्रिया को शिक्षक तथा अभिभावकों को भली प्रकार समझना चाहिये। इसके द्वारा बालक का अनेक प्रकार से कल्याण किया जा सकता है। निर्देश को मुख्यतः हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) सामूहिक निर्देश,

(२) वैयक्तिक निर्देश,

(३) प्रति निर्देश, और

(४) आत्म निर्देश।

सामूहिक निर्देश के कारण जिसे बहुत लोग सही कहते हैं, हम उसे आँख मूँदकर मान लेते हैं। श्रोताओं का वक्ता से प्रभावित होना इसका

सुन्दर उदाहरण है। लेख और भाषण में यही अन्तर है। भाषण लेख की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता है। इस सामूहिक निर्देश का उपयोग शिक्षक अत्यन्त सुन्दरता से कर सकते हैं। वैयक्तिक निर्देश के वश में होकर मनुष्य अपने विचारों पर विश्वास न करके दूसरों के वश में हो जाता है। नेतागण इसी प्रवृत्ति का लाभ उठाते हैं। शिक्षक इस निर्देश-प्रवृत्ति का सदुपयोग बालकों को सदाचार की ओर निर्देशित करके कर सकते हैं। शिक्षक के लिए नैतिक तथा आत्मिक बल बढ़ाना अति आवश्यक है। अन्यथा बालक उनके निर्देश के प्रतिकूल आचरण करने लगता है।

निर्देश का तीसरा रूप प्रतिनिर्देश है। निर्देश के प्रतिकूल आचरण करने वाला व्यक्ति प्रतिनिर्देश से प्रभावित होता है। विचार तथा भाव की प्रतिकूलता के कारण यह शक्ति उत्पन्न होती है। क्रिया बदलने पर प्रतिकूलता भी दूर हो जाती है। यदि बालक को किसी कार्य को करने के लिए मना किया जाय तो वह अपनी हठवादिता के कारण उस कार्य को अवश्य करेगा। यदि उसे वही कार्य करने को कहा जाय तो वह उस कार्य को छोड़ देगा। ऐसी जगह प्रतिनिर्देश का प्रयोग अत्यन्त लाभप्रद होगा। आत्मनिर्देश की भावना को विकसित करना शिक्षकों एवं अभिभावकों का प्रधान कर्तव्य है। महापुरुषों के जीवन में आत्मनिर्देश बहुत बड़ा कार्य करता है। आत्मनिर्देश-शक्ति चरित्र, बुद्धि तथा बल में ही परिवर्तन नहीं करती प्रत्युत शारीरिक परिवर्तन भी इसी से हो जाते हैं। आत्मविश्वास तथा आत्मसम्मान आत्मनिर्देशक की आधार भित्ति हैं। जब निर्देश बालक के जीवन पर पूर्णरूपेण छा जाते हैं तो वह परावलम्बी, परनुवर्ती बन जाता है। बालक के चारित्रिक विकास के लिए उसकी बुद्धि का स्वतन्त्र विकास अत्यन्त आवश्यक है।

प्रस्तुत परिच्छेद में बालक की मूलप्रवृत्तियों के विकास के विभिन्न स्तरों पर विचार किया गया है। आगामी परिच्छेद में हम बाल्य जीवन में संवेग तथा आदत के महत्त्व पर विचार करते हैं।

बालक जीवन में संवेग तथा आदतों का स्थान

मूलप्रवृत्तियों का संवेग से अबाध सम्बन्ध है। कतिपय मनोवैज्ञानिकों ने इसी आधार पर मूलप्रवृत्ति की विवेचना की है। संवेग मन में अत्यन्त तीव्रता से उठने वाली एक भावात्मक वृत्ति है। संवेग-उत्पत्ति के समय मनुष्य अनेक प्रकार की भावनाओं और क्रियाओं की अनुभूति करता है। संवेग का लक्ष्य बाह्य पदार्थ ही होता है। मनोवैज्ञानिकों के कथनानुसार हमारी प्रत्येक चित्तवृत्ति के तीन पहलू होते हैं—

(१) ज्ञानात्मक (Cognative),

(२) क्रियात्मक (Conative), और

(३) भावात्मक (Affective)

अन्तिम पहलू ही संवेग का कारण होता है। संवेग मनुष्यों के अतिरिक्त पशु-पक्षियों में भी पाये जाते हैं। इन्हें हम जन्मजात मनोभाव भी कह सकते हैं। प्रत्येक विषय-ज्ञान के साथ राग-द्वेष का भी अपना संबंध होता है। जीवन के साथ स्वभाव से ही राग और द्वेष भी लगे रहते हैं। ज्ञान तथा क्रिया के संयोग की भाँति संवेग का भी संयोग होता है। मेगडूगल महोदय के कथनानुसार प्रत्येक मूलप्रवृत्ति के साथ एक संवेग भी रहता है। भय के साथ पलायन वृत्ति होती है। द्वन्द्व और क्रोध भी एक साथ ही रहते हैं। कुछ मनोविज्ञानवेत्ताओं ने संवेग को शरीर में होने वाली क्रियाओं का फल ही बतलाया है। इस विषय में जेम्स तथा लेंगे साहब का सिद्धान्त बहुत अधिक प्रसिद्ध है। उनके कथनानुसार विभिन्न प्रकार की शारीरिक चेष्टायें करने पर ही हम सुखी अथवा दुःखी होते हैं। रोना या हँसना हमारे दुःख अथवा सुख का कारण है। दुःख अथवा सुख हमारे रोने या हँसने के कारण नहीं है। कुछ दूसरे मनोवैज्ञानिकों का

कथन है कि सवेग हमारी स्वतन्त्र रहने वाली स्नायुओं की प्रक्रियाओं का फल है। सवेग प्यारेस तथा एड्रिनल ग्रंथियों की प्रक्रिया का फल है। कुछ भी हो, किन्तु यह तो मानना ही होगा कि सवेगों तथा शारीरिक प्रक्रियाओं में तात्विक सम्बन्ध है। हृष्ट-पुष्ट स्वस्थ बालक में साधारणतः क्रोध अथवा भय नहीं होता। मनोवैज्ञानिकों द्वारा कथित सवेगों की अनेक विशेषताओं में पाँच विशेषतायें प्रमुख हैं—

(१) सवेग व्यक्तिगत अनुभव है।

(२) सवेग का मूल भाव है।

(३) सवेग व्यापक अनुभव है।

(४) सवेग किसी मूलप्रवृत्ति अथवा क्रियात्मक मनोभावों से सबधित होता है।

भाव ही है। भाव एक विशेष मानसिक अनुभव है। इसे अन्य प्रत्यय द्वारा समझाया नहीं जा सकता। कुछ मनोवैज्ञानिक इन्हे विशिष्ट सवेदना कहकर पुकारते हैं। शरीर मे होने वाले विकारो का परिणाम ये सवेदनाएँ हैं। सवेदनाये शरीर की अवस्था तथा वाह्य उत्तेजना पर आश्रित होती हैं। किन्तु भाव इन पर आश्रित नही है। वह एक स्वतन्त्र मानसिक अनुभव है। सवेदना और भाव मे यही अन्तर है। सवेदना कल्पना की भॉति भाव का कारण बन सकती है। किंतु सवेदना और भाव दो पृथक् वस्तुएँ हैं। भाव की भाँति सवेग भी स्वतन्त्र मानसिक अनुभव है। सवेग शारीरिक क्रियाओ पर निर्भर नही है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के कथनानुसार सवेग शरीर मे होने वाले विकारो का एक विशेष परिणाम है। सवेग शरीर मे होने वाली क्रियाओ की सवेनना मात्र है।

प्रत्येक प्राणी को सवेग की अनुभूति होती है। विचार सवेगो को नियत्रित करते हैं। बालक के सवेग अपेक्षाकृत अधिक वेग से प्रकाशित होते हैं। व्यक्ति जितना अधिक चिंतनशील अथवा मननशील होगा, सवेग उतने ही अधिक शिथिल होगे। नारी का सवेग नर की अपेक्षा अधिक प्रबल होता है। युग महोदय के कथनानुसार नर तथा नारी मे जन्मना-सवेग सम्बन्धी मानसिक भेद होते हैं। वही व्यक्ति सवेगो का नियत्रण कर सकता है जो अपने मनोभावो को रोक कर उसका सद्व्यय कर सकता है।

एक विशेष प्रकार की क्रियात्मक प्रवृत्ति प्रत्येक सवेग के साथ चलती है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक स्टाउट महोदय के कथनानुसार सवेग का मूल यह क्रियात्मक प्रवृत्ति ही है। बालक का अत्यन्त प्रिय खिलौना यदि आप उसके सामने से उठाएँ तो वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार उसका विरोध करेगा। वह जोर से रो पड़ेगा या दाँत काट लेगा आदि-आदि। इच्छित पदार्थ की प्राप्ति अथवा उसके सामीप्य पर जब आघात किया जाता है

तो व्यक्ति तिलमिला उठता है। प्रवल दुख अथवा सुख का अनुभव करना ही सवेगों का अनुभव करना है।

संवेग किसी न किसी काल्पनिक अथवा ठोस वस्तु के प्रति प्रकट किया जाता है। एक पदार्थ द्वारा जब सवेग उत्तेजित होता है और यदि उसका अभाव हुआ तो वह किसी दूसरे पदार्थ पर आरोपित होता है। क्रोध और भय एक पदार्थ के अभाव मे दूसरे पर आरोपित हो जाते हैं। सवेग के निम्न प्रकार हैं:—

(१) भय,
(२) क्रोध, } विनाशात्मक सवेग

(३) करुणा या दया,
(४) प्रेम, } रचनात्मक सवेग

(५) ग्लानि,
(६) कामुकता,
(७) आत्महीनता, } विनाश एव सकोचात्मक सवेग

(८) उत्सुकता या आश्चर्य,
(९) उत्साह और,
(१०) प्रसन्नता। } प्रसारात्मक एव रचनात्मक सवेग

सवेग के ये भेद नित्य और नैसर्गिक हैं। आधुनिक मनोविज्ञान-वेत्ताओं के कथनानुसार एक सवेग को दूसरे सवेग का परिवर्तित रूप नहीं माना जा सकता। प्रत्येक सवेग मे दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ सदैव पाई जाती हैं.—

(१) रागात्मक और

(२) द्वेषात्मक।

भिन्न-भिन्न सवेगों के उठने पर सुख और दुख की अनुभूति होती है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि जब हमारी मूलप्रवृत्तियों के समाधान मे अवरोध आता हैं तो दुःखात्मक सवेग पैदा होते हैं। जब हमारे

मूलप्रवृत्तियों के प्रकाशन में सुगमता मिलती है तो हमें सुखात्मक संवेग की अनुभूति होती है।

संवेग और शारीरिक क्रियाओं में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। क्रोध के साथ त्योरियाँ बदलना, ओठ चबाना, हृदय-गति तीव्र होना, चेहरा लाल होना आदि-आदि इसके उदाहरण हैं। क्रोध और भय की स्थिति में शरीर के अन्दर विशेष प्रकार की ग्रन्थियाँ अपना कार्य प्रारम्भ कर देती हैं। क्रोध और भय स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं। हम प्राय: शिशु को चिढ़ा कर उसे कुपित कर देते हैं, उसे भूत-प्रेत से सदैव भयभीत करते रहते हैं। यह अभिभावकों का एक असभ्य अपराध या शिशु के प्रति निर्ममता का एक लज्जास्पद कृत्य होता है। प्रेम और उत्साह स्वास्थ्य-वर्द्धक संवेग हैं। मुख्यत: चार प्रकार के संवेग होते हैं —

(१) रचनात्मक संवेग (Creative Emotion)

(२) विनाशात्मक संवेग (Destructive Emotion)

(३) प्रसारात्मक उद्वेग (Expanding Emotions)

(४) संकोचात्मक संवेग (Contracting Emotions)

उमंग संवेग जनित अस्थाई मानसिक विकार है। मन की उमंगों का स्वास्थ्य पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। क्रोध और भय की उमंग स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद है। किन्तु प्रेम और उदारता की उमंग स्वास्थ्यवर्धक होती है। वातावरण के परिवर्तन से उमगों मे परिवर्तन लाया जा सकता है। परिस्थितियों के परिवर्तन होने से उमगों मे मौलिक परिवर्तन हो जाता है। क्रोध भय मे, प्रेम क्रोध मे परिवर्तित हो जाता है।

निरन्तर चलने वाला क्रोध वैर और घृणा के स्थाई भाव मे परिवर्तित हो जाता है। स्थाई भाव और संवेग में मूलभूत अन्तर है। संवेग शीघ्र ही परिवर्तित हो जाता है; किन्तु स्थाई भाव में शीघ्र परिवर्तन होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। एक संवेग एक ही स्थाई भाव उत्पन्न कर सकता है, किन्तु एक स्थाई भाव कई संवेगों की उत्पत्ति का कारण बन सकता है। स्थाई भावों का मूलप्रवृत्ति के साथ विशेष सम्बन्ध होता है। मूलप्रवृत्तियाँ मनुष्य के जन्मना स्वभाव का अंग हैं, किन्तु स्थाई भाव मनुष्य का अर्जित स्वभाव है। स्थाई भाव की जननी मूलप्रवृत्ति ही है। इस कथन को मैक्डूगल साहब ने बड़े अधिकारपूर्ण शब्दों में स्पष्ट किया है। एक ही प्रकार के स्थाई भाव की उत्पत्ति में अनेक मूलप्रवृत्तियाँ कार्य करती हैं। मूलप्रवृत्तियाँ और स्थाई भाव ही मनुष्य के सभी कार्य का संचालन करते हैं। प्रोफेसर ड्रेवर ने स्थाई भाव को संवेग-जन्य आदत ही माना है। भावात्मक और क्रियात्मक मनोवेग ही वास्तव में स्थाई भाव हैं। स्थाई भावों में प्रायः कई संवेगों का सम्मिश्रण रहता है। श्रद्धा में प्रेम और भय, लज्जा में प्रेम और आत्महीनता तथा घृणा में क्रोध और ग्लानि का सम्मिश्रण रहता है। स्थाई भाव और संवेग में कारण कार्य का सम्बन्ध है। विशेष विषय का होना स्थाई भाव के लिए अनिवार्य है।

बालक के जीवन में संवेगों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। बाल-सुलभ चंचलता के कारण बालक के संवेग भी चंचल होते हैं। अभिभावकों

का यह परम कर्तव्य है कि वे उचित वस्तु के प्रति ही बालक के मन में संवेग आने दें, किन्तु अधिकांशतः अभिभावकों को इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं। बालक की उपेक्षा का यह अपराध अक्षम्य है। उत्तेजना का अवरोध बालक के व्यक्तित्व के लिए हानिप्रद होता है। उत्तेजना-हीन बालक निस्तेज हो जाता है। उत्तेजना का विषय बदला जा सकता है। बालकों के अधिक दमन से उनके संवेग नष्ट हो जाते हैं जिससे वह भविष्य में किसी भी कार्य के योग्य नहीं रह जाते। बालक के मन में उन्हीं स्थाई भावों को जमने दिया जाना चाहिये जो कि उसके लिए लाभप्रद हों। इस विषय में भी अभिभावक को अत्यन्त सतर्क रहने की आवश्यकता है।

वस्तुतः मनुष्य का चरित्र उसके स्थाई भावों का समुच्चय मात्र है। स्थाई भाव अच्छे और बुरे दोनों हो सकते हैं। अनुचित स्थाई भाव नैतिकता के प्रतिकूल होते हैं। विकृत स्थाई भाव मनुष्य के स्वभाव तथा चरित्र दोनों को विकृत कर देता है। संवेगों की भाँति स्थाई भावों का भी विषय परिवर्तन किया जा सकता है। प्रायः यह परिवर्तन युक्तिसंगत नहीं होता। स्थाई भावों का परिवर्तन दो प्रकार से होता है.—

(१) स्थानान्तरण (Displacement) तथा

(२) विघटन (Dissolution)

बहुत सी मानसिक ग्रंथियाँ व्यक्ति के शैशव ही में निर्मित हो जाती हैं। प्रायः अभिभावक बालक की इच्छाओं की चिन्ता न करके ताड़ना द्वारा उसका दमन करते हैं। फलतः बालक के मन में घृणा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार की ग्रंथियों को मनोविश्लेषण के द्वारा चेतन मन में लाकर विघटित किया जा सकता है। आचार्य पतञ्जलि के योग सूत्र तथा बौद्धों के अभिधम्मनिकाय में मानसिक ग्रंथियों को सुलझाने के अनेक उपाय दिये गये हैं। आधुनिक चित्त-विश्लेषकों में डाक्टर होमर लेन ने इस दिशा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। बालक को बार-बार

चिढ़ाना, उसकी नुक्ताचीनी करना उचित नहीं है। अब तक संवेगों पर विचार कर लेने के पश्चात् अब आदतों पर थोड़ा चिन्तन करना हमारी आगामी पंक्तियों का उद्देश्य है।

मनुष्य का समूचा व्यक्तित्व आदतों का एक पुंज है। हमारी आदतों पर ही हमारा जीवन सुखी अथवा दुखी होता है। अपनी आदतों के ही कारण हम प्रेम या घृणा के पात्र बनते हैं। इन आदतों का निर्माण मनुष्य स्वयं करता है और बाद में उसका वशीभूत हो जाता है। आदत मनुष्य का एक प्रकार का अर्जित मानसिक गुण है। आदतों का आधार अभ्यास है। आदतों के निर्मित हो जाने पर हमारी मानसिक चेष्टायें उसी के अनुकूल दिशा में होती हैं। मानव-जीवन में जन्मजात तथा अर्जित दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ कार्य करती हैं। मूलवृत्तियों को हम जन्मजात तथा आदतों को हम अर्जित मानसिक प्रवृत्ति कह सकते हैं। मूलप्रवृत्तियों की भाँति आदतें भी हमें विशिष्ट कार्य करने के लिए प्रेरित करती हैं। अतः आदत को हम केवल मानसिक संस्कार मात्र मानकर नहीं बैठ सकते, वह एक क्रियात्मक प्रवृत्ति है। बहुत से मनोविज्ञानवेत्ताओं ने आदत को स्वयं क्रियात्मक प्रवृत्ति न मानकर उसे एक क्रिया का विशेष पथ अवश्य माना है। आदतःक्रियात्मक होती है। आदत और मूलप्रवृत्ति दोनों क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ हैं। मूलप्रवृत्तियों की भाँति आदतें भी अनेक प्रकार की चाहों का कारण बन जाती हैं। बालक जन्मना कुछ संस्कार और स्वभाव पाता है। भौतिक दृष्टिकोण से उन्हें परंपरागत तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से पूर्व जन्मगत संस्कार कहा जा सकता है। किन्तु आगे चलकर वातावरण के कारण बालक की आदतों का विकास होता है। आदतों का आधार अभ्यास ही है।

स्पष्टतः आदत के दो आधार हैं.—

(१) मूलप्रवृत्तियाँ और

(२) वातावरणजन्य संस्कार।

जड़वादी तथा व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक आदतों में संस्कारों को प्राधान्य देते हैं। चैतन्यवादी मनोवैज्ञानिक मूलप्रवृत्तियों को प्रधान महत्व प्रदान करते हैं। जन्मजात आदतों का आधार मूलप्रवृत्तियाँ हैं और अर्जित आदतों का आधार वातावरण जनित संस्कार है। वस्तुतः वातावरण के संस्कार मूलप्रवृत्तियों की शक्ति पाकर आदतों में परिवर्तित हो जाते हैं। मूलप्रवृत्तियों में सरलता से परिवर्तन नहीं किया जा सकता, किन्तु आदतों में परिवर्तन करना अपेक्षाकृत अधिक सरल है। मूलप्रवृत्तियों का सम्बन्ध हमारे दृश्य अथवा अदृश्य मन दोनों से है। वंश-परंपरागत उसकी नींव होने के कारण वे अत्यन्त सुदृढ़ होती हैं। पाशविक मूल-प्रवृत्तियाँ मानवी मूलप्रवृत्तियों की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ होती हैं। पशु मूलप्रवृत्तियों द्वारा ही संचालित होते हैं। उनमें आदतें बहुत कम होती हैं। कतिपय मनोवैज्ञानिक मनुष्य के स्वभाव में मूलप्रवृत्तियों का किंचित भी अस्तित्व नहीं मानते। विलियम जेम्स महोदय का कथन है कि आदतों का निर्माण हमारे स्नायु तंतुओं द्वारा स्नायु शक्ति के प्रवाह पर निर्भर है। गाल्ट तथा हावर्ड महोदय इस विषय में थोड़ा मतभेद रखते हैं। उनके कथनानुसार जन्म के समय मनुष्य के मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न स्नायुओं में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता, अनेक प्रकार के अनुभवों के पश्चात् इस प्रकार के सम्बन्ध स्थापित होते हैं। स्नायुओं का सम्बन्ध स्थापित होना ही आदतों का निर्मित होना है। यह भौतिकवादियों का सिद्धान्त अत्यन्त त्रुटिपूर्ण है। आदतों के निर्माण में तीन अन्य महत्वपूर्ण तत्त्व कार्य करते हैं.—

(१) इच्छाशक्ति,

(२) अव्यक्त मन और

(३) रुचि।

आदत का निर्माण हमारी मानसिक क्रियाओं पर आश्रित है। इच्छाशक्ति इस निर्माण में प्रधान कार्य करती है। कुछ लेखक आदतों

को चेतनाशून्य बतलाते हैं। वस्तुतः आदत की क्रियायें हमारे चेतन तथा अचेतन मन द्वारा संचालित होती हैं। अव्यक्त मन हमारी आदतों को शक्ति प्रदान करता है। जिस क्रिया की ओर हमारी रुचि होती है उसी ओर हमारी आदतों का निर्माण भी होता है। हमारी रुचि का आधार मूलप्रवृत्तियाँ ही हैं। रुचि का उचित निर्माण करने के लिए ज्ञान आवश्यक है। प्रसिद्ध जर्मन मनोवैज्ञानिक हरबर्ट ने बालकों के सुधार के लिए उनका ज्ञान-वर्धन ही एक उपाय बतलाया है। ज्ञानवृद्धि के अनुकूल ही चरित्र का निर्माण होता है। चरित्र का निर्माण रुचि तथा आदतों के निर्माण पर ही निर्भर है।

आदत के मुख्य चार लक्षण हैं—

(१) समानता (Uniformity),

(२) सुगमता (Facility),

(३) रोचकता (Propensity) और

(४) ध्यान स्वातन्त्र्य (Independence of Attention)

आदत की क्रियाओं में सदैव समानता रहती है। चूंकि आदत की क्रियायें अभ्यस्त होती हैं अतः उनमें सुगमता भी होती है। रुचि के कारण आदत का निर्माण होता है। अतः आदत की क्रियाओं में रोचकता आ जाना सर्वथा स्वाभाविक है। आदत निर्मित हो जाने पर हमें उसकी क्रियाओं में अधिक सचेष्ट होकर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं रहती। वह स्वतः अत्यन्त स्वाभाविक रूप में चलती रहती है।

आदत का मानव-जीवन में एक बहुत बड़ा महत्त्व है। आदत पर ही मानव का चरित्र आश्रित है। बाल्यकाल में यदि ये आदतें डाल दी जाती हैं तो बालक का सम्पूर्ण जीवन उक्त आदतों की भलाई या बुराई

पर आश्रित होता है। अपनी भली आदतों के कारण या तो उसका जीवन अत्यन्त सुखमय तथा सम्मानित हो जाता है या फिर अपनी बुरी आदतों के कारण उसका जीवन अभिशाप बन जाता है। प्रौढ़ों की अपेक्षा बालकों में आदतें अधिक सरलता से डाली जा सकती हैं। आदत से शक्ति का अपव्यय नहीं होता। अच्छी आदतों के निर्माण की आदत ही सबसे अच्छी आदत है। बालक के जीवन में अच्छी आदतों का निर्माण करना ही शिक्षा का सतत् लक्ष्य है। रूसो के कथनानुसार किसी प्रकार की आदत न डालने की आदत ही सबसे अच्छी आदत है। आदतों का गुलाम अपना स्वाभाविक स्वतन्त्र विकास नहीं कर पाता। रूसो का कथन देखने तथा सुनने में अति सुन्दर होते हुए भी वह क्रियात्मक जीवन के अधिक निकट नहीं है। आदत से शून्य मनुष्य का अस्तित्व कल्पना से परे वस्तु है। भली आदतों के अभाव में मनुष्य उचित दिशा की ओर विकास नहीं कर सकता। आदत शक्ति-सचय का एक बहुत बड़ा साधन है। शैशव आदत डालने का सर्वोत्तम समय है। इस समय जो आदतें निर्मित हो जाती हैं वे प्राय. जीवन भर चलती रहती हैं। अभिभावकों का कर्तव्य है कि वे बालक में भली आदतों का निर्माण करके अपने उत्तर-दायित्व का पालन करें। किन्तु खेद है कि अभिभावकगण इस ओर से पूर्ण रूपेण उदासीन हो चले हैं। बालकों की यह उपेक्षा एक निर्ममता है जिसके लिए समाज अभिभावकों को क्षमा नहीं कर सकता।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स ने आदत डालने के मुख्य चार नियम बतलाये हैं—

(१) दृढ़ सकल्प,

(२) कार्यशीलता,

(३) लगन और

(४) अभ्यास।

दृढ संकल्प आदतों के निर्माण में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ है। भली आदतो के निर्माण में दृढ़ सकल्प का उचित उपयोग किया जा सकता है। सकल्प की दृढता में इच्छाशक्ति की दृढ़ता का अपना प्राधान्य होता है। इरादो तथा संकल्पो की दृढ़ता के साथ कर्मठ क्रियाशीलता की आवश्यकता है। कर्मठ क्रियाशीलता के अभाव में दृढ़ सकल्प तथा सुन्दर इरादो का कोई महत्त्व नहीं है। दृढ़ सकल्प तथा कर्मठ कार्यशीलता के निर्वाह के लिए सतत्-निरतर लगन की आवश्यकता है। लगन के अभाव मे सकल्प और क्रियाशीलता अधिक दिनों तक नहीं टिक सकती। आदत अभ्यास का ही परिणाम है। भली आदते कठिनाई से पडती हैं, किन्तु सरलता से छूट जाती हैं। बुरी आदते सरलता से पड़ जाती हैं किन्तु बडी कठिनाई से छूटती हैं। भली आदते इच्छाशक्ति को दृढ़ बनाकर चरित्र का विकास करती है किन्तु बुरी आदते इच्छाशक्ति को कमजोर बनाकर चरित्र को दूषित कर देती हैं।

अनेक प्रकार की मानसिक ग्रंथियो के कारण जटिल आदते पड़ जाती हैं जिनका छूटना अत्यन्त कठिन हो जाता है। जिन आदतों को प्रकाशन का अवसर नहीं मिलता, वे स्वतः छूट जाती हैं। किन्तु जटिल आदतो का छूटना कठिन हो जाता है। किसी आदत को डालने के लिए बार-बार अभ्यास करना तथा उसे छोडने के लिए उसके विपरीत अभ्यास करना श्रेयस्कर है। नवीन मनोविज्ञान ने हमारी इस धारणा में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया है। इनके कथनानुसार प्रत्येक आदत का मूल अभ्यास नहीं वरन् सवेग है। बुरी आदतों को मिटाने के लिए सम्बन्धित विकृत सवेग को नष्ट करना आवश्यक है। अन्यथा विपरीत आचरण से आदत नहीं नष्ट सकती। इसके लिए मनोविश्लेषण की आवश्यकता है। इस विचार धारा के अग्रणी हैडफील्ड महोदय हैं। आपने अनेक प्रमाणों तथा प्रयोग द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि यदि दो घटनाओं की अनुभूति एक साथ

हो तो जब भी एक प्रकार के अनुभव के संस्कार उत्तेजित होंगे तो दूसरे प्रकार के अनुभव के संस्कार भी स्वत. उत्तेजित हो उठेंगे, भले ही वे एक दूसरे के विपरीत ही क्यों न हों।

कहने का अभिप्राय यह कि आदत पर मानवी चरित्र आधारित है। अतः चरित्र निर्माण के लिए अच्छी आदतों का निर्माण आवश्यक है। आदतों के महत्त्व को बतलाने का एकमात्र उद्देश्य केवल यह था कि माता-पिता, अभिभावक तथा शिक्षकगण बालक के उस बहुमूल्य समय की, जिसमे अच्छी आदते भी डाली जा सकती हैं, हत्या करके बालक के साथ अन्याय न करे, उसके सामाजिक अधिकार का गला न घोटे। आगामी परिच्छेद मे हम बालक की कल्पना पर थोड़ा विचार करेगे।

———

बालक और कल्पना

कल्पना शब्द के साधारणतः दो अर्थ होते हैं। एक अत्यन्त व्यापक और दूसरा साधारण व्यावहारिक अर्थ। प्रथम अर्थ के अनुसार कल्पना हमारी जाग्रत अवस्था के प्रत्येक अनुभव में कार्य करती है। कल्पना के अभाव में किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान भी असंभव है। पदार्थ की अनुपस्थिति में उससे सम्बन्धित विचार को ही कल्पना माना जाता है। इन्द्रिय संवेदना से परे ज्ञान को हम कल्पना कह सकते हैं। स्मृति भी कल्पना के अन्तर्गत आती है। पुराना अनुभव कल्पना के रूप में कल्पना के माध्यम से चेतना के समक्ष आता है।

मनोविज्ञान के अनुसार कल्पना मन की वह रचनात्मक क्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य अपने गत अनुभवों के आधार पर नवीन विचार सृष्टि का निर्माण करता है। यह एक स्वतन्त्र मानसिक क्रिया है। कल्पित पदार्थ का भौतिक जगत में रहना आवश्यक नहीं है। कल्पना सदैव अनुभव से परे, स्वतन्त्र होकर नवीन पदार्थ का निर्माण करती है। कल्पना तथा स्मृति में घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों का आधार प्रत्यक्ष ज्ञान ही है। स्मृति प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा प्राप्त अनुभूति को मौलिक रूप में चेतना के समक्ष लाती है किंतु कल्पना उसी अनुभूति के आधार पर नयी सृष्टि का निर्माण करती है। इन्द्रिय-जनित ज्ञान के अभाव में कल्पना करना सम्भव नहीं है। अनुभव के बिना कल्पना का अस्तित्व ही नहीं है। स्मृति चेतना को अतीत और कल्पना भविष्य की ओर ले जाती है। कल्पना का लक्ष्य मनोराज्य का निर्माण करना ही होता है। कल्पनाएं प्रायः अन्य रूप में परिणत हो जाया करती हैं, किन्तु इस परिवर्तन से कल्पनाएँ कल्पनाएँ नहीं रह जातीं। स्मृति के तीन प्रमुख अंग माने गये हैं—

(१) धारणा,
(२) स्मरण और
(३) पहचान ।

किसी अनुभव के संस्कारों को मन में स्थित करना धारणा कहलाता है । व्यवहारवादियों ने धारणा का आधार मस्तिष्क के संस्कारों को और चेतनावादियों ने मानसिक संस्कारों को माना है । संस्कारों की दृढ़ता पर धारणा की भी दृढ़ता आश्रित है । स्मरण का आधार विभिन्न प्रकार के अनुभवों का एक दूसरे से सम्बन्ध रखना है । एक ज्ञान तथा दूसरे ज्ञान में तीन प्रकार के सम्बन्ध माने गये हैं—

(१) क्रमानुगतता,
(२) समानता और
(३) विरोध ।

सहधर्मी वस्तुओं का स्मरण स्वभावतः एक साथ होता है । विरुद्ध धर्म वाली वस्तु जहाँ याद आती है वहाँ विरोध कार्य करता है । पहचान को कुछ मनोवैज्ञानिकों ने अर्ध-स्मरण माना है । गत अनुभव के आधार पर ही प्रत्यक्ष पदार्थ पहचाना जाता है । बालकों की धारणा-शक्ति प्रौढ़ों की अपेक्षा अधिक अच्छी होती है । बालकों को रटने का काम देना अधिक सीमा तक अच्छा होता है क्योंकि इस समय इनकी स्मरण-शक्ति अत्यन्त प्रखर होती है । किन्तु बालकों में प्रौढ़ों की अपेक्षा स्मरण-शक्ति कम होती है । उनकी चञ्चलता के कारण उनकी रुचि, उनका ज्ञान सब कुछ अस्थिर होता है । बालकों में शब्दों की अपेक्षा वस्तुओं को स्मरण रखने की शक्ति अधिक तीव्र होती है क्योंकि बालक की रुचि स्थूल पदार्थों के प्रति होती है । बालक को अधिकाधिक वस्तु-ज्ञान कराना ही आवश्यक है । थारेन डाइक तथा गेट्स जैसे विद्वानों ने बालक की स्मरण-शक्ति को बढ़ाने के कुछ एक उपाय बतलाये हैं । रटने की अपेक्षा आत्मपरीक्षा स्मरण रखने के लिए अधिक उपयोगी है । स्मरण-शक्ति के अभाव में मनुष्य अपने

गत अनुभव से लाभ नहीं उठा सकता। वह अपने वचनों का उचित रूप में पालक नहीं बन सकता। होनहार व्यक्ति भविष्य पर चिन्तन करता हुआ कल्पना की ओर बढ़ता है। अतीत-चिंतन वृद्धापन की एक निशानी है।

बाल-जीवन के लिए कल्पना का बहुत बड़ा महत्त्व है। बालक मे सुख सामग्री अर्जित करने की शक्ति कम रहती है। अतः वह कल्पना के माध्यम से उस अभाव की पूर्ति करता है। कल्पना के अभाव मे बालक का जीवन भार बन सकता है। कल्पना द्वारा बालक की सृजनात्मक अथवा रचनात्मक शक्ति का विकास होता है। कल्पना उत्साह-वर्धक होती हैं। प्रौढ की अत्यधिक कल्पना उसके मानसिक रोग का कारण है। किंतु उतनी ही कल्पना बालक के लिए स्वाभाविक है। कल्पना बालक के आत्मप्रकाशन का सुन्दरतम माध्यम है। कल्पना के अभाव मे महत्वाकांक्षी होना असम्भव है, महत्वाकांक्षाहीन बालक निस्तेज होता है। कल्पना का विकास बालक के व्यक्तिगत जीवन के विकास ही नहीं प्रत्युत उसके नैतिक तथा सामाजिक जीवन के विकास के लिए आवश्यक है। कविता, कला, साहित्य आदि का आधार कल्पना ही है। कविता, कला, साहित्य आदि के विकास के लिए सहानुभूति अथवा संवेदनशीलता की आवश्यकता है और लगभग सभी सद्गुणों का आधार कल्पना ही है। यही सद्गुण नैतिक तथा सामाजिक गुण के आधार हैं। कल्पना के अभाव में बर्बरता का उन्नयन होता है। बालक की कल्पना-शक्ति का दमन करना उसे दानवता की ओर ले जाना है। विभिन्न प्रकार की कल्पनाओं के मुख्य छः भेद हैं—

(१) दृष्टि प्रतिमा (Visual Imagery)
(२) ध्वनि प्रतिमा (Auditory Imagery)
(३) स्पर्श कल्पना (Tectile Imagery)
(४) क्रिया कल्पना (Motile Imagery)

(५) घ्राण कल्पना (Obfactory Imagery)

(६) रस कल्पना (Gostitutary Imagery)

दृष्टि कल्पना में प्रवीण व्यक्ति आँख से देखे पदार्थ को भली भाँति स्मरण रख सकते हैं। कान से सुने अनुभवों का मन में दोहराया जाना ध्वनि कल्पना के अन्तर्गत आता है। स्पर्श कल्पना के द्वारा स्पर्श अनुभव को याद किया जाता है। क्रियात्मक अनुभव का सचय ही क्रिया कल्पना का आधार है। घ्राण कल्पना के आधार पर सूँघी हुई वस्तुओं की अनुभूति मन को होती है। रस कल्पना वस्तु की स्वाद कल्पना है। उपर्युक्त विभाजन बाह्य रूप के अनुसार किया गया है। कल्पना तथा वास्तविकता का सम्बन्ध ध्यान में रखते हुए कल्पना का दूसरा वर्गीकरण किया गया है। वह इस प्रकार है—

(१) पुनरावृत्यात्मक (Reproductive),

(२) रचनात्मक (Constructive),

(३) व्यावहारिक कल्पना,

(४) स्वतन्त्र कल्पना,

(५) कलामयी कल्पना, और

(६) तारंगिक कल्पना।

अनुभव की हुई घटना ज्यों की त्यों मानस-पटल पर जब चित्रित होती है तो उसे हम पुनरावृत्यात्मक कल्पना कहते हैं। यह कल्पना स्मरण-क्रिया का प्रधान अंग है। स्मृति से इसका भेद करना नितान्त असम्भव है। कुछ लोगों ने भेद अवश्य बतलाया है, किन्तु वह संतोष-जनक नहीं प्रतीत होता। इस कल्पना के ज्ञान में अनुभूत पदार्थ के देश-काल का स्मरण होना आवश्यक नहीं है जबकि स्मृति में यह अनिवार्य है। रचनात्मक कल्पना नयी सृष्टि का निर्माण करता है। वास्तव में रचनात्मक कल्पना ही विशुद्ध कल्पना की कोटि में आती है। अतीत का अनुभव

इसका आधार है। सृजनात्मक कल्पना का सम्बन्ध सदैव भविष्य से रहता है। रचनात्मक कल्पना को भी हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) व्यावहारिक रचनात्मक कल्पना और

(२) स्वतन्त्र रचनात्मक कल्पना।

इंजीनियर योजना निर्मित करने में व्यावहारात्मक कल्पना का सहारा लेता है। स्वतन्त्र कल्पना वास्तविकता से उतनी नियंत्रित नहीं होती जितनी कि व्यावहारात्मक कल्पना। स्वतन्त्र कल्पना की सृष्टि कवि की कविता में दिखलाई पडती है। कवि की कल्पना का लक्ष्य उसकी अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है। कलामयी कल्पना वास्तविकता से पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं होती, किंतु तरंगमयी कल्पना पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र होती है। तरगमयी कल्पना बाल्य जीवन के लिए अधिक उपयोगी होती है। तरगमयी कल्पना एक प्रकार की मानसिक क्रीडा है। बालक का जीवन इस कल्पना के द्वारा रसमय होता है। कल्पना उनकी अतृप्त इच्छाओं की तृप्ति का एक-मात्र साधन है। इससे बालक का जीवन रोचक बनता है। अतः वह जीवन को भार न समझकर प्रत्युत सौभाग्य समझकर व्यतीत करता है। बालक की कल्पना की तीन प्रमुख विशेषताऍं हैं—

(१) सजीवता,

(२) तारंगिता और

(३) प्रतीकात्मकता।

प्रौढों की अपेक्षा बालकों की कल्पना अधिक सजीव होती है। इसी सजीवता के कारण बालक वास्तविकता तथा काल्पनिकता में भेद नहीं कर पाता। जो आनन्द हम सिनेमा से पाते हैं वही आनन्द बालक कहानी सुनने में पाता है क्योंकि वह कल्पना दृष्टि से कहानी की सारी घटनाओं को देखता भी है। कल्पना की सजीवता उनके अनेक झूठ का कारण बन जाती है। बालकों की कल्पना में अपेक्षाकृत तारंगिकता भी अधिक होती है। वास्तविक जगत से कल्पना जितनी दूर होता जाती है वह

बालक को प्रियतर होती जाती है। बालक की कल्पना सदैव किसी छिपी हुई इच्छा की प्रतीक होती है।

बालक की कल्पना के विकास के चार प्रमुख उपकरण हैं :—

(१) खेल,

(२) कहानियाँ,

(३) अभिनय और

(४) कला।

बालक की कल्पना के विकास का प्रमुख साधन खेल ही है। पहले खेल शारीरिक होता है फिर धीरे-धीरे खेलो मे कल्पना और विचार की आवश्यकता होने लगती है। जिस शिक्षा-प्रणाली के खेल मे बालक की कल्पना का समुचित ध्यान नहीं रक्खा जाता वह शिक्षा-प्रणाली बालक की आत्म-स्फूर्ति को समाप्त कर देती है। माटेसरी शिक्षा-पद्धति मे काल्पनिक खेलो को कोई स्थान नहीं दिया गया है। यह एक भयानक भूल की गई है। इस ओर फ्रोबल शिक्षा-पद्धति सर्वोत्कृष्ट है। बालक की कल्पना के विकास का दूसरा साधन कहानियाँ हैं। बालकों की कहानियों मे नीरस वास्तविकता ही नहीं होनी चाहिए। कहानियो मे इतनी शक्ति होनी चाहिए कि वे बालकों को उल्लसित कर दें। माटेसरी शिक्षा-प्रणाली मे कहानियों मे असम्भव बातो को कोई स्थान नहीं दिया गया। यह एक मनोवैज्ञानिक भूल है। उनका कथन है कि इससे बालक मे मिथ्या अंधविश्वास उत्पन्न होते हैं। यह बाल-मनोविकास के प्रतिकूल है। बालक को एकाएक विवेकी बनाने की चेष्टा करना उस पर बरबस प्रौढ़त्व लादना है। बालक के लिए कभी भी समस्या-मूलक कहानियाँ नहीं लिखनी चाहिए। अभिनय बालक की कल्पना के विकास का तीसरा साधन है। बालकों मे अभिनय की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। बालकों के बहुत से खेल अभिनयात्मक होते हैं। बालक की कल्पना के विकास के लिए अभिनय अत्यन्त उपयोगी साधन है। अभिनय से बालक की रचनात्मक प्रवृत्ति का विकास

होता है। बालक की कल्पना के विकास का चतुर्थ साधन कला है। कल्पना कला का प्राण है। सुन्दर कलाकार की कल्पना भी सुन्दर होती है। कला द्वारा बालक की कल्पना एवं उसकी आत्मा का प्रसार होता है। चित्रकार अपने हृदय के सौंदर्य को ही अंकित करता है। सौन्दर्योपासना ही कला का मूल है। कला का प्रभाव कलाकार के आचरण पर भी पड़ता है। मानव का दैवी गुण कला के द्वारा विकसित होता है। कलाकार के हृदय में ही रहकर मानव की मानवता अपने को सुरक्षित समझती है। मानव-समाज के पुनरुद्धार के लिए मानव-शिशु को कला का उपासक बनाना ही होगा। कला की वृद्धि कल्पना की वृद्धि एवं उसकी परिष्कृति पर ही निर्भर है। आदर्शमयी कला के लिए आदर्श सुन्दर कल्पनाओं की भी आवश्यकता है। कला का प्राण आदर्शवादी कल्पना ही है। कहने का अभिप्राय यह कि मानव-शिशु की कल्पना को विकसित करके ही हम उसे पूर्ण आदर्श मानव बना सकते हैं।

बालक और इंद्रिय-ज्ञान

इद्रिय-ज्ञान मनुष्य के सभी प्रकार के ज्ञान का आधार है। इंद्रिय-ज्ञान पर पूर्ण अधिकार कर लेना ज्ञान की सीमा को छू लेना है। मनोविज्ञान में इद्रिय-ज्ञान को सबसे सहज ज्ञान कहा गया है। यह इतना सरल है कि शुद्ध इद्रिय-ज्ञान अर्थात् सवेदना मात्र का ज्ञान तो नवजात शिशु के अतिरिक्त और किसी को ज्ञात होना सम्भव नहीं है। हमारा ज्ञान शुद्ध सवेदना नहीं है वह पदार्थ अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। बालक के अनुभव के साथ-साथ इद्रिय-ज्ञान भी बढ़ता जाता है। प्राचीन काल में लोग पाँच प्रकार की सवेदनाओं को जानते थे।

(१) शब्द,

(२) रूप,

(३) रस,

(४) स्पर्श और

(५) गंध।

किन्तु आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने संवेदनाओं के अनेक भेद माने हैं। तुरन्त सवेदनाओं के भेद दो प्रकार के होते हैं —

(१) गुण भेद और

(२) शक्ति भेद।

अपना विशेष महत्व रखती है। इंद्रिय-ज्ञान की शिक्षा के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं :—

(१) इंद्रिय-ज्ञान शक्ति की वृद्धि,

(२) उक्त ज्ञान शक्ति को उपयोगी बनाना।

शिक्षा द्वारा बालकों में अपने इंद्रियों द्वारा, अधिकाधिक कार्य करने की प्रवृत्ति को जाग्रत किया जाना चाहिए। उन्हे इसमें कुशलता भी प्राप्त करनी चाहिए। डाईडेक्टिक नामक शिक्षा के कुछ सामानों का आविष्कार मेडम माटेसरी ने किया था। इसके द्वारा बालक को इंद्रिय-ज्ञान की शिक्षा दी जाती है। यह शिक्षा-प्रणाली सभी सभ्य देशों में प्रचलित है। माटेसरी का प्रयत्न अभिनन्दनीय है। किन्तु उसकी इन्द्रिय-ज्ञान की शिक्षा की उपयोगिता के विषय में बहुत से मनोवैज्ञानिक सहमत नहीं हैं। जर्मन मनोवैज्ञानिक विलियम स्टर्न, अमेरिकन मनोवैज्ञानिक किलपैट्रिक इसका विरोध करते हैं। किंडर गार्डन, गुड़ियों का खेल माटेसरी के ऐपरेटस से अधिक उपयोगी हैं। उनका प्रचार भारतीय बालकों में आवश्यक है।

———

शिशु और नैतिकता

बालक की नैतिकता और उसका चरित्र भी हमारे लिए एक समस्या है। बालक के नैतिक विकास तथा उसके चारित्रिक विकास की ओर से हमारे अभिभावकगण प्राय: उदासीन ही देखे गए हैं। यह बालक की उपेक्षा है। जीवन की हर मौलिक वस्तुओं की उपलब्धि बाल्यकाल से ही होने लगती है। माता-पिता का यह परम कर्त्तव्य है कि वे बालक के चारित्रिक विकास की ओर ध्यान रक्खें। प्रत्येक माता-पिता सतान के लिए सुख की कामना रखते हैं। किन्तु फिर भी वे इस ओर से उदासीन रहते हैं। जीवन की मौलिकता पर कोई भी ध्यान देने का कष्ट नहीं करता। चरित्रवान् व्यक्ति ससार की सब प्रकार की सुख-सामग्री से वञ्चित रहते हुए भी सुखी रह सकता है। चरित्र मनोविज्ञान का सर्वाधिक गहन विषय है। चरित्र के स्वरूप और विषय पर अभी तक लोग एकमत नहीं हो सके। चरित्र मानसिक शक्ति का सामञ्जस्य है। मनोवैज्ञानिक चरित्र का निरूपण भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। मनोविज्ञानवेत्ताओं ने चरित्र के चार अंगों को लेकर उन्हीं पर अधिक जोर दिया है। वे चार अंग इस प्रकार हैं :—

(१) आदतों का निर्माण,
(२) विचार का विकास,
(३) आध्यात्मशक्ति की वृद्धि और
(४) स्थायी भाव का सगठन।

जाती है। मूलप्रवृत्तियों के द्वारा ही आदतो का निर्माण होता है। आदतें मूलप्रवृत्तियों का परिवर्तित रूप हैं और आदतो का समुच्चय ही चरित्र है। चरित्र में उपार्जित तथा मूल दोनों प्रवृत्तियों का समावेश होता है। अधिकाश मनोवैज्ञानिक चरित्र शब्द के अर्थ में उपार्जित मनोवृत्ति को ही लेते हैं। भली आदतों का निर्माण बालक के नैतिक एव चारित्रिक विकास के लिए आवश्यक है। विचार-विकास.के साथ-साथ चरित्र का भी निर्माण होता है। विचार तथा विवेक मनुष्य को पशुओं से अलग करते हैं। विचार और विवेक की प्रधानता हर चरित्रवान् व्यक्ति के कार्य में होती है। विचार ही शुभ तथा अशुभ की कसौटी है। विचार के द्वारा मूल-प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रक्खा जा सकता है। विचार-शक्ति का भी विकास धीरे-धीरे होता है। बालकों के जीवन को प्रायः मूलप्रवृत्तियाँ ही संचालित करती हैं। विचार मनुष्य के नये स्वभाव का निर्माण कर देते हैं। लक्ष्यों का निर्माण, सामञ्जस्य, मूलप्रवृत्तियों का परिष्कार विचार द्वारा ही होता है। चरित्रवान् व्यक्ति अपनी बुद्धि से ही अपना कार्य करता है। उसकी आध्यात्मिक शक्ति उसके कार्य मे सहायक होती है। आदत आध्यात्म शक्ति का विकसित रूप है। चरित्र आध्यात्म शक्ति का भी बहुत कुछ ऋणी है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैकडूगल के कथनानुसार चरित्र स्थाई भावों का सगठित रूप है। सुन्दर चरित्र का आदर्श सदैव ऊँचा होता है। आध्यात्मशक्ति तथा स्थाई भावो को अधिकाधिक शक्तिशाली बनाने में ही चरित्रविकास या चरित्र-गठन की सफलता है। चरित्र स्थाई भावों का पुंज है। ये स्थाई भाव संचित शक्ति के केन्द्र हैं।

स्थाई भावों में सबसे अधिक शक्तिशाली आत्मप्रतिष्ठा का भाव है। सुन्दर चरित्र में सभी प्रवृत्तियों आत्मप्रतिष्ठा के भाव से ही अनुशासित रहती हैं। आत्मप्रतिष्ठा चरित्र को सगठित रूप देकर बलवान् बनाती है। बालक के मन में स्थाई भावों के स्थापन के साथ उसका चरित्र-

विकास किया जा सकता है। चरित्र का एक मुख्य अंग मानसिक दृढ़ता है। दृढता चरित्र का प्रधान गुण है। विचार करके निर्धारित मार्ग पर निरंतर एक ही गति से चलने की शक्ति को ही चरित्र-बल कहते हैं। इच्छाओं का सामञ्जस्य करने मे ही चरित्र का विकास निहित है। सामञ्जस्य से वह अन्तर्द्वन्द्व की पीडा से मुक्त रहता है। अत. वह सहजानन्द की अनुभूति प्राप्त करता है। इच्छाओं के सामञ्जस्य के लिए आत्मा का बली होना आवश्यक है। बली आत्मा संयम की अभ्यस्त रहती है। इस संयम की शक्ति मे ही चरित्र बल निहित है। बाल्यकाल से लेकर प्रौढावस्था तक चरित्र का विकास होता रहता है। चरित्र की नींव बाल्यजीवन मे ही पड़ती है। शैशव की इच्छाओं, संस्कारो, आदतो और भावनाओं का चरित्रगठन मे एक महत्व है। अभिभावकों एव शिक्षकों का कर्तव्य है कि वे बालक की सभी आदतों का भली भाँति अध्ययन करके आवश्यक मान कर बालक के जीवन के विकास मे सहायक हों। बालक की इच्छाओं की अवहेलना का बहुत भयानक दुष्परिणाम होता है। अभिभावकों को बालकों की अनेक इच्छाओं का ज्ञान नहीं रहता। अपने पैमाने पर बालक की स्थिति को नापना एक भूल है। अपनी नैतिकता को बालक पर जबरन लादना निरी अज्ञानता है। दमन से बालक की इच्छा समाप्त नहीं हो जाती वरन् वह अनेक मानसिक रोग के रूप मे पैदा होती है। बालकों की आत्मप्रशंसा की इच्छा-तृप्ति यदि उनके बाल-जीवन मे नहीं हो जाती तो भविष्य मे वह दूसरे की निन्दा करने की प्रवृत्ति के रूप में प्रकट होती है। अभिभावकों को चाहिए कि वे बालकों की समय-समय पर प्रशंसा करते रहे। इच्छाओं के दमन से बालकों मे निराशावादी दृष्टिकोण का उदय होता है जो कि उनकी आत्मिक शक्ति को क्षीण कर देता है। बालक माँ का दूध पीकर ही चरित्रवान् हो सकता है। समय के पूर्व बालक को माता का दूध छुड़ा देने की प्रवृत्ति अत्यन्त [illegible] है। [illegible] का दूध पीने वाला बालक आलसी, [illegible] तथा

क्रूर होता है। बालक स्तनपान करने के साथ-साथ उस समय माता के विचारों का भी कर्षण करता रहता है। यदि बालक माता का स्तनपान उचित काल तक नहीं करता तो उसके मानसिक गुणों का विकास कदापि नहीं हो सकता। खाने-खेलने की प्रवृत्ति के दमन से बालक तेजहीन तथा स्फूर्तिहीन बन जाता है। बालक की हर प्रकार की इच्छा का महत्त्व अभिभावकों को भली प्रकार जान लेना चाहिए। तृप्त इच्छाएँ बालक को विकासोन्मुख बनाती हैं। बालक के अन्तर पर शुभ संस्कारों का डालना उसे चरित्रवान् बनाने के लिए आवश्यक है। शुद्ध वातावरण एवं उपदेशपूर्ण कहानियों द्वारा बालक के मन पर अच्छे संस्कार डाले जा सकते हैं। सिनेमा आज नैतिक पतन का सबसे बड़ा साधन बन गया है। बालक को ताड़ना देना किसी भी स्थिति में उचित नहीं है। अत्यधिक नियन्त्रण के अनेक दुष्परिणाम होते हैं। बालकों में शुभ आदतों को डालने के लिए अभिभावकों का स्वयं सच्चरित्र होना अत्यन्त आवश्यक है। ज्ञानवृद्धि विचार-विकास एव चरित्र-निर्माण के लिए आवश्यक है। हरबार्ट का कथन है कि मूर्ख पुरुष सदाचारी नहीं हो सकता। सुकरात ने ज्ञान को सदाचार बतलाया है। शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-निर्माण है। इसका सर्वश्रेष्ठ साधन ज्ञान-वृद्धि ही है। आध्यात्मशक्ति का विकास उपरोक्त सभी वस्तुओं की उपलब्धि के बाद सरलतापूर्वक किया जा सकता है। चरित्र आध्यात्मिक शक्ति की प्रबलता ही है। आत्मा अभ्यास से बलवान होती है। चरित्र के महत्त्व आदि पर विचार करने के बाद हम बालक की कतिपय चारित्रिक समस्याओं पर विचार कर लें तो यह विषयान्तर न होगा। बालक की चोरी, उसका झूठ और भय आज हमारी मुख्य समस्याएँ हैं। सर्वप्रथम हम बालक की चोरी की आदत पर विचार करेंगे।

चोरी एक सामाजिक अपराध है। नैतिकता तथा कानून चोर को

करना नहीं करने। अपराध कार्य से अधिक उद्देश्य मे होता है। बालक को जो कि किसी भी प्रकार के अपराध के ज्ञान से शून्य है, किस रूप मे लिया जाय। लगभग सभी सभ्य देशो मे बालक की इस प्रवृत्ति के निवारण के लिए क्रियात्मक उपायों का सहारा लिया गया है। बालको मे चोरी की प्रवृत्ति के सामान्यत. निम्नाङ्कित छ. कारण हैं—

(१) जन्मजात मानसिक कमजोरी,

(२) इच्छा की प्रबलता,

(३) ईर्ष्या,

(४) सगति का प्रभाव,

(५) आत्महीनता का भाव और

(६) बहादुरी।

साठ सत्तर प्रतिशत चोरी के अपराधी बालक मानसिक कमजोरी के शिकार होते हैं। चोरी करने वाले बालको मे बुद्धि का बहुत बड़ा अभाव होता है। इसका होना स्वाभाविक ही है। वह अपनी मूलप्रवृत्ति की प्रेरणा से हर प्रकार के अपराध कर बैठता है। इसके अवरोध के लिए बुद्धि की प्रखरता आवश्यक है। चोरी करने के लिए भी कुछ बुद्धि की आवश्यकता है। निरा मूर्ख व्यक्ति चोरी नहीं कर सकता। जन्मजात मानसिक दुर्बलता का अर्थ नैतिक कमजोरी समझना भूल होगी। नैतिकता का भाव आदत की भाँति अभ्यास पर आश्रित है। जन्म से बालक मे नैतिकता अथवा अपराध की प्रवृत्ति नहीं होती है। कभी-कभी चोर माता-पिता की सन्तान चोर होती है। इसका कारण वंशानुक्रम नहीं वरन् वातावरण है।

होता है। कुछ बालक अपने साथियों को तंग करने के लिए ही चोरी करते हैं। कुछ बालक ईर्ष्यावश अपने सहपाठी की वस्तु चुरा लेते हैं। कुछ बालक वस्तु को चुराकर नष्ट कर डालते हैं। चोरी की आदत संगति के कारण भी विकसित होती है। प्रत्येक बालक जो कि चोरी करता है उसमें आत्महीनता का भाव रहता है। डाम साहब ने इसके अनेक उदाहरण भी दिये हैं। प्रत्येक बालक बहादुरी के काम करना चाहता है। चोरी को भी वह एक कौशल समझकर करता है। संक्षेप में यही चोरी की आदत के कुछ कारण हैं। इन कारणों को समूल उखाड़ देने से बालक की चोरी की आदत सरलतापूर्वक समाप्त की जा सकती है। किन्तु अभिभावकों को चाहिए कि वे बालकों की स्थिति का सावधानी से अध्ययन करें। इस प्रकार बालक को चोरी की आदत से मुक्त किया जा सकता है।

चोरी की आदत पर एक दृष्टिपात करके हम अब बालकों के भय पर एक हलका-सा दृष्टिपात करेंगे। भयभीत बालक कल का भीरु नागरिक बन सकता है। भय एक मानसिक संवेग है। जब प्राणी को किसी प्रकार की हानि पहुँचने की आशंका होती है तो वह संवेग स्वतः जग उठता है। भय की अवस्था में साधारणतः बालक अन्य स्थितियों की अपेक्षा अधिक कार्य कर सकता है। भय में आत्म-रक्षा की भावना निहित है। अत्यधिक भयभीत हो जाने पर मनुष्य शिथिल हो जाता है और वह विनाशोन्मुख होता है। भय दो प्रकार के होते हैं :—

(१) स्वाभाविक भय और

(२) अर्जित भय।

स्वाभावतः बालक कुछ चीजों से डरता है। बालक शेर के शब्द से [illegible] वह अन्धकार से जन्म से नहीं डरता, किन्तु धीरे-धीरे उसके [illegible] में अन्धकार के प्रति भी एक भय घर कर लेता है। बालक काल्पनिक चीजों से डरता है। जिस वस्तु को वह हानिप्रद समझता है

वह उससे भी डरता है। बालक की आयु तथा अनुभव के साथ उसके भय के विषय भी बढ़ते जाते हैं। अर्जित भय के दो कारण होते हैं :—

(१) अनुभव और

(२) बतलाने से।

'दूध का जला छाँछ फूँककर पीता है' यह कथन प्रथम कारण का अत्यन्त उचित उदाहरण है। माता-पिता मिथ्या भय बालक के मन में उत्पन्न कर देते हैं। प्रायः अभिभावकगण अपनी असावधानी तथा अज्ञानता के कारण बालक को भीरु बना देते हैं। हौवा आदि से बालक को डराना उसे कायर बनाना है। बालक के कोमल अन्तःकरण में जब एक भय घर कर लेता है तो उसे निकालना अत्यन्त दुरूह कार्य हो जाता है। माता-पिता का यह कर्तव्य है कि अनावश्यक अनुचित भय को बालक के मन में पैठने भी न दें। बालक का भय उसका ज्ञान और अनुभव बढ़ाकर दूर किया जा सकता है। अव्यक्त मन में स्थित भय को ज्ञान तथा अनुभव-वृद्धि के द्वारा भी समाप्त करना अत्यन्त कठिन है। ऐसा भय निर्भय लोगों की संगति से दूर किया जा सकता है। बालक को सदैव उत्साही एवं स्वस्थ बालकों के साथ रखना चाहिए। कार्यपरायणता से भी भय का नाश किया जा सकता है। अकर्मण्य बालक डरपोक बन सकता है। आत्मनिर्भरता की प्रवृत्ति के उत्कर्ष से स्वतः अनेक भय नष्ट किये जा सकते हैं।

चित्तविश्लेषण-विज्ञान से भय-निवारण सरलतापूर्वक किया जा सकता है। इस विज्ञान ने इस ओर बहुमूल्य चीजें दी हैं। काम-प्रवृत्ति के दुरुपयोग से भी भय अपना स्थाई स्थान मन में कर लेता है। कितने लोगों में इन्हीं भय से मानसिक नपुंसकता पैदा हो जाती है। जननेन्द्रिय सम्बन्धी भय बालक को सदा के लिए भीरु, निरुत्साही, निस्तेज तथा अकर्मण्य बना देता है। जिस बालक की आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति का अनुचित रूप से दमन किया जाता है, जिसकी साधारण इच्छाएँ अतृप्त

रह जाती है, जिसकी जिज्ञासा अथवा उत्कंठा बुरी तरह कुचल दी जाती है वह भी आगे चलकर कायर बन जाता है। बालक को बार-बार दण्ड देने का यही दुष्परिणाम होता है। दण्ड का लक्ष्य बालक के आचरण का सुधार होना चाहिए। किन्तु जो दण्ड बालक के मन मे भय उत्पन्न करता है उससे हानि के अतिरिक्त लाभ कुछ नहीं है। जो बालक अधिक ताड़ना पाते हैं वे अधिक ओजस्वी तथा प्रतिभाशील नहीं बन सकते। निर्भय बालक ही विश्व-कल्याण कर सकते हैं। दण्ड के औचित्य पर विचार करना हमारा प्रथम कर्तव्य है।

मनुष्य के मानसिक सवेगों का उसके स्वास्थ्य से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। भय और क्रोध ये दो सवेग व्यक्ति की सदैव हानि करते हैं। ये स्वास्थ्य के लिए विषतुल्य हैं। बालकों के भय पर विचार कर लेने के अनन्तर हम उनके झूठ पर भी थोड़ा विचार करेंगे।

झूठ बोलना एक ऐसी आदत है जिसकी लत बचपन से ही पड़ती है। बचपन की किसी भी आदत को भविष्य में छोड़ना बड़ा दुरूह कार्य होता है। बालक के कल्याण के लिए उसके झूठ, झूठ के कारण तथा परिस्थितियों का ज्ञान अभिभावकों को आवश्यक है। यह एक धृष्टता तथा अशिष्टता होगी किन्तु फिर भी मे अपने अभिभावकगण से अत्यन्त विनम्र शब्दो मे पूछता हूँ कि क्या उन्हे अपने बालकों के मिथ्या भाषण के कारण तथा परिस्थितियो का ज्ञान है, और यदि है तो उसके निराकरण के लिए आप लोगो ने क्या किया ! मै जानता हूँ कि इसका उत्तर मुझे उचित रूप मे नहीं मिलेगा किन्तु आज का बालक कल के युग का भाग्य-विधाता अपनी इस उपेक्षा के लिए किसी भी कीमत पर उन्हें क्षमा न कर सकेगा। मिथ्या बोलने का अर्थ है, वस्तु का यथार्थ रूप दूसरों के न बताना।

वस्तु का यथार्थ रूप दूसरो को न बताना ही मिथ्या-भाषण कहलाता है। इसके विपरीत वस्तु का यथार्थ रूप लोगों को बतला देना सत्य भाषण

के अन्तर्गत आता है। हमें यह भी ज्ञान होना चाहिये कि वस्तु तथा वस्तु-ज्ञान में अन्तर है। वस्तु के प्रति हर व्यक्ति के ज्ञान में अन्तर होता है। प्रौढ तथा बालक के वस्तु-ज्ञान में अन्तर स्वाभाविक ही नहीं वरन् अनिवार्य भी है। बालक के मनोविकास को समझने में हमें सावधान रहने की आवश्यकता है।

बालक के मिथ्या-भाषण में प्रायः कल्पना का पुट रहता है। प्रौढ़ों की भाँति बालक का वस्तु-ज्ञान बहुत अधिक साफ नहीं होता, दूसरी ओर उसकी कल्पना शक्ति अत्यन्त प्रबल तथा सजीव होती है। प्रायः बालक इन्द्रिय-ज्ञान तथा कल्पना को पृथक् नहीं कर पाता। अतः बहुधा बालक देखी हुई वस्तु का वर्णन कल्पना द्वारा अतिरंजित कर देता है। बालक की स्मृति भी तीव्र नहीं होती है। वह शीघ्र ही अनुभव को विस्मृत कर जाता है। फलतः विस्मृत बातों का वर्णन वह कल्पना के बल पर करता है। बालक इन्द्रिय-ज्ञान के अनुभव को प्राय पूर्णरूपेण भूल-सा जाता है। अतः उसका वर्णन बहुधा वास्तविक झूठ नहीं होगा। ऐसे समय पर बालक को यह कहना ही नहीं चाहिये कि वह मिथ्या-भाषण कर रहा है। क्योंकि ऐसा कहने से वह अपनी स्वाभाविक जिज्ञासा के अनुसार उस झूठ को भी जानने का प्रयास करेगा और सचमुच झूठ बोलना प्रारम्भ कर देगा। इस झूठ पर बालक को दण्ड देना और भी हानिप्रद है। बार-बार

बोलने के आदी हो जाते है। बहुधा बालक आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर मिथ्या-भाषण करते हैं। ऐसे बालको मे परनिन्दा करने की भी आदत बढ़ जाती है। दमन का दुष्परिणाम यह होता है कि बालक मार के भय से मुक्त होकर बेहया हो जाता है। अतः उसे झूठ बोलना आसान हो जाता है। माता-पिता भी बालक को मिथ्या-भाषण सिखलाते हैं क्योंकि वे स्वय ही मिथ्याचरण करते हैं। इसके अतिरिक्त बालक के अनेक वास्तविक झूठ भी होते हैं। लोभ, दूसरो पर प्रभुत्व जमाना, उन्हे कष्ट देना आदि-आदि भावना से प्रेरित होकर बालक नैतिक झूठ भी बोलता है। मनोरजन के लिए भी झूठ बोले जाते हैं। झूठ बोलना किसी लुप्त वासना को तृप्त करने का एक विकृत मार्ग होता है। इस प्रकार का मिथ्या-भाषण एक प्रकार का मानसिक रोग होता है जिससे बालको को बचाना हमारा परम कर्तव्य है।

बालक को इस अनैतिक झूठ से मुक्त करने के लिए कतिपय उपचार भी बतलाये गये हैं। फ्रास का प्रसिद्ध दार्शनिक रूसो का कथन है कि यदि अभिभावकगण यह देखे कि बालक मिथ्या-भाषण की आदत डाल रहा है तो वे उसकी सत्य बातो पर भी विश्वास करना छोड़ दे। इस प्रकार बालक स्वतः इस आदत को छोड़ देगा।

कभी-कभी बालक का बहिष्कार करके तथा उसे शारीरिक दण्ड देकर भी यह आदत छुड़ाई जा सकती है। किंतु बालक के झूठ का उचित कारण ज्ञात कर लेना अति आवश्यक है। चित्त-विश्लेषण के द्वारा भी बालक के झूठ का उपचार किया जा सकता है। झूठ बोलना एक आदत है। आदतो का बाह्य कारण अभ्यास है। किंतु सूक्ष्म विश्लेषण करके यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि हर आदत के मूल में एक इच्छा-शक्ति होती है। बालक को झूठ के प्रति सचेष्ट तथा जागरूक रखना भी प्रायः उसके झूठ की वृद्धि करना है। अत्यधिक उपदेश से भी बालक विपरीत आचरण करने लगता है। बालक के मन पर उसी व्यक्ति के उपदेश का

अनुकूल प्रभाव पड सकता है जिससे वे प्रेम करते हों जिसके प्रति उनमें श्रद्धा और सहानुभूति हो।

कुछ झूठ जीवन के लिए उपयोगी हैं। कहानियों में अतिरंजित मिथ्या काल्पनिक वर्णन बालक के लिए आवश्यक है। उपर्युक्त तरीकों को ध्यान में रखकर बालक को इस आदत से मुक्ति दिलाई जा सकती है। बालक की नैतिकता तथा चरित्र पर विचार करते हुए उदाहरणार्थ बालक के झूठ, भय और उसकी चोरी पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। इसी प्रकार बालक के अन्य दुर्गुणों का वैज्ञानिक विवेचन करके उसे उन दुर्गुणों से मुक्त किया जा सकता है।

बालक और उसका साहित्य

चूँकि हमने बालक के व्यक्तित्व को किसी प्रकार की मान्यता नहीं दी अतः उसके लिए किसी प्रकार के साहित्य की आवश्यकता भी नहीं समझी गई। बालरूप की पूजा करने वाले देश में बालक की यहउ पेक्षा न जानें किस पाप तथा अभिशाप का परिणाम है। साहित्यकार समाज का अग्रणी नेता है, वह युग का प्रतिनिधि है, उसकी आवाज में युग बोलता है। वह अपनी अभिव्यक्ति में युग की अनुभूति अभिव्यक्त करता है, वह समाज का सबसे बड़ा जागरूक प्राणी है। बालक की उपेक्षा क्या उसकी जागरूकता अथवा उसकी सतर्कता का प्रमाण है ? युग तथा.समाज के प्राण ने उसकी नींव को भूलकर जिस साहित्य का सृजन किया है उसके बल पर युग के प्रतिनिधित्व का उसका दावा निरर्थक है। यह उपेक्षा बहुत दिनों से चली आ रही है। अन्य देशों ने हमारे देश की उपेक्षा अपने बालकों को अधिक समृद्ध साहित्य दिया है।

अति विनम्र शब्दो में हमारे बालक आदि कवि वाल्मीकि से पूँछ सकते हैं कि यदि वे विस्तृत रामचरित का सृजन करके भारतीय जनता का कल्याण कर सकते थे तो क्या वे अपने बालकों के लिए कुछ नहीं लिख सकते थे ? महाकवि कालिदास मेघदूत, कुमार सम्भव, अभिज्ञान शाकुन्तल आदि दे सकते थे तो क्या वे बालोपयोगी कोई भी साहित्य नहीं दे सकते थे ! भवभूति. बाणभट्ट आदि ने भी बालक की पूर्णरूपेण उपेक्षा की। हितोपदेश तथा पञ्चतन्त्र की कहानियो के अतिरिक्त संस्कृत बाल-साहित्य में कुछ भी नहीं है। जननायक तुलसीदास ने विस्तृत रामचरित मानस महाकाव्य लिख डाला किन्तु बालक की ओर उनकी भी कृपा न हुई। वात्सल्य रस में सिद्ध विश्व के अद्वितीय कवि सूर ने बालक की

सम्मानि मृजन लीलाओं का वर्णन कर डाला किन्तु उन्होंने भी बालोपयोगी चीजें लिखने की कृपा नहीं की।

आज भी अधिकांश गणमान्य साहित्यकार इस ओर कार्य करना हेय कार्य समझते हैं। धीरे-धीरे हर साहित्यकार इस वास्तविकता को अनुभव करने लगा है कि प्रौढ साहित्य सर्जना से बालसाहित्य का सृजन करना अपेक्षाकृत कठिन है। क्योंकि हर प्रौढ साहित्यकार ऊँची चीजों को अनुभव कर सकता है और इस अनुभव के बल पर वह प्रौढ साहित्य लिख सकता है। किन्तु सफल बाल साहित्य लिखने के लिए साहित्यकार को पुन. बालक बनकर उसकी भावनाओं को समझना होगा। तभी वह बाल मनोविज्ञान के अनुकूल साहित्य का सृजन कर सकेगा।

हम सभी साहित्यकारों का ध्यान इसकी आवश्यकता की ओर आकर्षित करते हैं और आशा करते हैं कि उनकी प्रतिभा से हमारा बाल साहित्य आलोकित होगा।

इसके बाद साहित्य की वर्तमान स्थिति पर विचार करने के अनन्तर हम उसकी आवश्यकताओं पर भी विचार करेंगे। बालक के लिए ऐसी पुस्तकों तथा पत्रिकाओं की आवश्यकता है, जो विषय के साथ साथ उनके बाह्य रूप में भी अत्यन्त सुन्दर हों। पत्रिकाओं तथा पुस्तकों में

कहानियो मे अक्षय आशावादी सदेश भरा पडा है। हम तथाकथित शिक्षा के मद मे इसकी उपादेयता भूल चुके हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है। अब हम बाल साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

बालक की कल्पना अत्यन्त सजीव और सुन्दर होती है। कुछ साधारण सिद्धान्त इस विषय में हैं। प्रत्येक बाल साहित्य के लेखक को इस ओर ध्यान देना होगा। बालक की कल्पना के विकास का सबसे बडा साधन कहानियाँ हैं। बालक प्रौढ़ों की अपेक्षा प्रकृति के अधिक निकट होता है। अत. उसके लिए कृत्रिमता की आवश्यकता नहीं है। कुछ लोग स्वाभाविकता तथा यथार्थ के नाम पर साधारण जीवन के सम्बन्धित चित्रण करना ही कहानी का विषय मानते हैं। इस प्रकार की कहानियाँ प्रौढों के लिए उपयुक्त हैं न कि बालकों के लिए। बालकों की कहानियाँ उनके मन मे आनन्द आह्लाद एवं उल्लास भरने वाली होनी चाहिए। परियों तथा बौनों की कहानियाँ सबसे अधिक उपयोगी होती हैं। राक्षसों, देवो या भूत-प्रेत की कहानियाँ यदि लिखी जायें तो यह ध्यान रहे कि वे इस प्रकार की हो कि बालकों में भय न आ सके। यदि किसी कहानी में इस प्रकार के वर्णन आ भी जायें तो उसी कहानी में कलात्मक ढग से बालक के भय का निराकरण किया जा सकता है। परियों तथा बौनो की कहानियो से बालक के मन मे सौदर्य के प्रति अनुराग बढता है तथा उसकी कल्पना विकसित होती है। महाभारत आदि की कहानियों के उपदेशात्मक आधार को नये रूप में बालकों के सामने रक्खा जा सकता है। कहानियो मे प्रत्यक्ष उपदेश का कोई उपयोग नहीं होता। जब लेखक उपदेशक के रूप मे बालक के समक्ष अपनी रचना के माध्यम से उपस्थित होता है तो वह अपने साथ बालक का भी अहित करता है। इस प्रकार के उपदेशो का बालक के मन पर कोई प्रभाव नहीं पडता। बालक को अपने उपदेशो से वही व्यक्ति प्रभावित कर सकता है जिसके प्रति बालक के मन मे श्रद्धा प्रेम तथा सहानुभूति है। उपदेश सुनना बालक

की अभिरुचि तथा मनोविकास के प्रतिकूल है। कहानियो में घटनाओं के माध्यम से बिना कुछ प्रत्यक्ष स्पष्ट कहे बालक पर संस्कार डाले जा सकते हैं। मैडम माण्टसरी ने अपनी शिक्षा-प्रणाली में कहानियों को और विशेष कर असंभव घटनाओं से परिपूर्ण कहानी को कोई स्थान नहीं दिया है। उनका विश्वास है कि इससे बालक में मिथ्या विश्वास घर कर लेता है। बालक की कहानियाँ कभी भी समस्यामूलक नहीं होनी चाहिए। कहानियो की शब्दावली सरलतम तथा वाक्य लघुतम होने चाहिए। बालकों को हाव-भाव से कहानियाँ सुनाना अधिक लाभप्रद होगा। बालक की कहानियो में यदि सत्य ही रहे तो उनकी कल्पना तुच्छ हो जायगी। उनकी खेल की सामग्री समाप्त हो जायगी। हास्यरस की कहानियाँ भी लिखी जा सकती हैं किन्तु उसमें शिष्टता तथा श्लीलता का ध्यान रखना अनिवार्य है। सफल लेखक भूत-प्रेत का रूपक बाँध कर भी बालकों को ऐसी कहानियाँ दे सकते हैं जो कल्पना प्रधान साथ ही सत्य के निकट एवं बालक की भयनिवारिका हो सकती हैं।

चुटकुलों से बालक की तर्क प्रवृत्ति में वृद्धि होती है। चुटकुलों में भी शिष्टता, श्लीलता तथा औचित्य का पूरा ध्यान रखना चाहिए। अभिनय बालक की कल्पना के विकास का एक सुन्दरतम साधन है। अभिनय की प्रवृत्ति लगभग सभी बालकों में होती है। बालक की इस प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए बालोपयोगी नाटकों का होना आवश्यक है। नाटक की कथावस्तु के लिए वे सभी चीजें आवश्यक हैं जो कि कहानियों के लिए हैं। नाटक में न्यूनतम पात्र होने चाहिए। उनमें दृश्य योजना इस प्रकार होनी चाहिए कि उस दृश्य को सहज ही में मंच पर अवतरित किया जा सके। नाटक छोटे तथा प्रभावशाली होने चाहिए। नाटकों के कथानक इस प्रकार से चुस्त होने चाहिए कि उसमें बालपात्रों और दर्शकों को ऊब न हो। नाटकों के अभिनय में कम से कम समय और श्रम से अधिक मनोरंजन होना आवश्यक है। यही बालोपयोगी

नाटको के सफलता की कसौटी है। इन नाटको के अभिनय से बालक के रचनात्मक प्रवृत्ति की वृद्धि होती है। इस प्रकार अभिनय की कल्पना उनके लिए अत्यन्त लाभप्रद होती है।

उपन्यास की कथावस्तु के विषय मे वही सारी चीजे आवश्यक है जो कि कहानियो के लिए। अधिकाशतः बालोपयोगी उपन्यास अधिक नहीं चलते। बालक अधिक समय तक बैठ कर नहीं पढ़ सकते। अतः बाल साहित्य के उपन्यासकार का कार्य अत्यधिक दुरूह हो जाता है। उपन्यास इतना रोचक होना चाहिए कि जब बालक उसे उठाये तो बिना समाप्त किये न छोड़े। उपन्यास की सफलता यही है कि पाठक उससे ऊब न सके और उसका कुतूहल, उसकी जिज्ञासा, उत्कठा तथा उत्सुकता उपन्यास के अन्त तक बनी रहे। बाल साहित्य के सभी अगो में रक्तपात की किसी प्रकार की घटना का वर्णन नहीं होना चाहिए। साहस तथा शौर्य को उपन्यास का विषय बनाया जा सकता है।

बाल साहित्य में लेखों के लिखने में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। लेख के लिए विषय-चुनाव करने में सतर्क रहना चाहिए। सदैव रोचक विषय पर ही लेख लिखा जाना चाहिए। गभीर समस्याओं पर बाल साहित्य में लेख लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। लेख प्रकृति सम्बन्धी हो तो अधिक अच्छा होगा क्योंकि यह पहले भी कहा जा चुका है कि बालक प्रौढ़ो की अपेक्षा प्रकृति के अधिक निकट होता है। उसके मन मे अपने चारो ओर की चीजो को अधिकाधिक जानने की प्रबल इच्छा होती है। चाँद, सूरज, तारे, किरण, सुबह, शाम, रात, दोपहर, धरती, पहाड़, नदी, समुद्र आदि-आदि विषयों पर अधिकाधिक लिखा जा सकता है। पशु-पक्षियो को लेकर उन पर रोचक लेख लिखे जा सकते हैं। किसी अत्यन्त सुन्दर स्थान का वर्णन किया जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि इस क्षेत्र मे बहुत कम कार्य किया गया है और इस ओर पर्याप्त कार्य किया जा सकता है। वैसे तो समूचा बाल साहित्य ही उपेक्षित है

किन्तु बाल साहित्य का यह अंग बालसाहित्य के लेखकों द्वारा भी उपेक्षित है। इस ओर भी पर्याप्त ध्यान देने की आवश्यकता है। बालकों के खेलों को भी लेख का विषय बनाया जा सकता है। बालकों के वस्तु-ज्ञान की वृद्धि करना ही लेखों का लक्ष्य होना चाहिए।

अब साहित्य का अन्तिम पर प्रधान अंग कविता शेष है। कविता के प्रमुख चार भाग किये जा सकते हैं—(१) गीतात्मक कविता, (२) वर्णनात्मक कविता, (३) हास्यरस की कविता और (४) पहेलियाँ। बालसाहित्य की कविताओं में प्राथमिकता गीत काव्य को ही मिलती है। इन गीतों की सफलता यही है कि ये बालकों में खूब प्रचलित हों। बालक इन गीतों को तन्मय होकर झूम-झूम कर गाता है। वह आत्मविभोर हो जाता है। यही इन गीतों की सफलता है। बालकों के लिए ऐसे गीतों की आवश्यकता है जिनको गाने में वे स्वयं खो जायँ। उदाहरण के लिए वर्षा का यह गीत बालकों में सर्वाधिक प्रचलित है.—

'आँधी पानी आवत है,
चिरैया ढोल बजावत है।
मेरा मामा पानी दे,

का सर्वथा अभाव है। बालक का हृदय स्वभावतः सौन्दर्यप्रेमी होता है। उसे सुन्दर वर्णनात्मक गेय लोरियाँ सुनाकर उसकी रुचि को अधिक सुन्दर तथा परिष्कृत बनाया जा सकता है। लोरियों के अतिरिक्त अन्य लयात्मक पद या गीतों पर हमारा ध्यान आकृष्ट होता है। सुन्दर प्रकृति के विषय को लेकर उन पर गीतों की रचना की जा सकती है। इन गीतों में भाषा की सरलता के साथ उसका माधुर्य और उसकी कोमलता, उसकी गीतात्मकता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए आवश्यक है।

बालक गद्य की अपेक्षा पद्य अधिक सरलतापूर्वक याद कर सकता है। वह कविता को अधिक चाव से पढ़ता है। अतः उसके वस्तु-ज्ञान-वृद्धि के लिए सुन्दर वर्णनात्मक कविताएँ लिखी जा सकती हैं। इन कविताओं में वर्णन जितना सुन्दर होगा उतनी ही रुचि से बालक इन्हें पढ़ेगा। वर्णनात्मक कविताओं में भी बालकों की रुचि के अनुकूल ही विषय का चुनाव होना चाहिए। उनके नित्य के जीवन से सम्बन्धित वस्तु ही हमारी वर्णनात्मक कविता का विषय हो तो अधिक श्रेयस्कर होगा।

वर्णनात्मक कविता पर कुछ बात-चीत करने के बाद हम हास्यरस की कविताओं को लेते हैं। हास्यरस की कविताओं की भी बहुत कमी है। हास्यरस की कविता के लेखक को इस विषय में सावधान रहना होगा कि वह अशिष्ट तथा अनुचित घटना के वर्णन से हास्य का उद्रेक न करे। उसके हास्य का बालमन पर क्या संस्कार पड़ेगा इसके प्रति उसे जागरूक रहना पड़ेगा। बालक जिस कविता पर खुल कर हँस सके वही हास्यरस की कविता सफल मानी जायगी।

जहाँ तक पहेलियों का सम्बन्ध है, वे भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। पहेलियों का लक्ष्य बालक को वस्तु-ज्ञान कराने के साथ-साथ उनमें उस ज्ञान के प्रति विश्वास पैदा करना है। बालक की बुद्धि-परीक्षा भी पहेलियों से होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि इस ओर भी काफी काम करने की आवश्यकता है।

बालक के साहित्य की उक्त कमियों की पूर्ति करके हम उसके प्रति अपने कर्तव्य का समुचित रूप से पालन कर सकते हैं। इस अभाव को यदि अभाव ही रहने देंगे तो कल की पीढ़ी हमें क्षमा न कर सकेगी। अतः भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्यकारों का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वे समाज के हित के लिए इस ओर ध्यान दें जिससे शिशुओं की उपेक्षा न हो सके।

दण्ड-व्यवहार तथा उत्तरदायित्व

एक वयस्क व्यक्ति यदि वह विक्षिप्त नहीं तो अपने उत्तरदायित्व से स्वतन्त्र नहीं रह सकता। कुछ लोग यह तर्क करते हैं कि उत्तरदायित्व सामूहिक रूप से विभक्त है, वह एक व्यक्ति पर ही नहीं लादा जा सकता। कुछ सामा तक उनका तर्क युक्तिसगत कहा जा सकता है। किन्तु बालक की उपेक्षा करके उसके प्रति दुर्व्यवहार करना सर्वथा अनुचित है। इस तथ्य से कोई इनकार नहीं कर सकता। यह भी सत्य है कि कानून व्यक्तिगत उत्तरदायित्व पर ही आधारित है। मनुष्य स्वनियत्रण से परे केवल दूसरों से प्रभावित एक पुतला है, कहना उचित नहीं है। कुछ सीमा तक हम स्वतत्र और परतत्र हैं। अपनी ·मूलवृत्तिजन्य क्रियाओं को हम अपने विचारों द्वारा परिमार्जित एव परिष्कृत कर सकते हैं किन्तु इसकी संभावना और आवश्यकता को समझ कर ही हम ऐसा कर सकते हैं।

साधारणत. मानव-चरित्र क्या है और अपने चरित्र में व्यक्तिगत विशेषता क्या है, यह जानना ही आत्मज्ञान है। अधिकाशतः लोगों में न तो यह भावना है और न पाठशालाओं ही में इस भावना को प्रश्रय दिया जाता है। इस सीमा तक व्यक्ति का उत्तरदायित्व समाज की खामियों के कारण कम हो जाता है। अज्ञानता के कारण भी शिशु के साथ निर्ममता तथा उपेक्षा का व्यवहार किया जाता है। निर्ममता, वातावरण तथा तत्काल प्रभावित करने वाले कारणों से उदित होती है। कानूनी तथा नैतिक दृष्टि से व्यक्ति अपने किये का उत्तरदायी है। शिक्षित तथा अच्छे वातावरण में भी बालक के प्रति किया गया अपराध अशिक्षित तथा बुरे वातावरण में किये गये अपराध की अपेक्षा अधिक निन्दनीय है।

अशिक्षित व्यक्ति द्वारा बुरे वातावरण में किये गये बालक के प्रति दुर्व्यवहार के लिए समाज कम उत्तरदायी नहीं है। कुछ भी हो, किन्तु इस निर्ममता की उपेक्षा भी एक बड़ी निर्ममता है। आत्मज्ञान की मूलभूत प्रारम्भिक शिक्षा व्यक्ति को देकर समाज इस निर्ममता की समाप्ति कर सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति ही अपने कार्यों का पूर्ण रूपेण उत्तरदायी है।

व्यक्तिगत उत्तरदायित्व पर विचार करने के उपरान्त हम दण्ड के औचित्य पर विचार करेंगे। निर्ममता की समस्या को हल करने के लिए हमें क्या करना चाहिए यह एक टेढ़ा सवाल है। अधिकांश यही चाहेंगे कि अपराधी को कठोरतम दण्ड दिया जाना चाहिए। ऐसी प्रतिक्रिया स्वाभाविक है। दण्ड के उद्देश्य तथा फल पर विचार करने के पूर्व यदि हम किसी को दण्ड का भागी बनायें तो यह सर्वथा अनुचित है। इस प्रकार अपराधी की भाँति हम भी अपनी भावनाओं के शिकार हो जायेंगे। दण्ड समाज का प्रतिकार ही नहीं है। दण्ड का उद्देश्य कुछ अधिक ऊँचा है। दण्ड प्रायः लाभप्रद होने के बजाय हानिप्रद अधिक होता है। दण्ड की भावना में से यदि हम प्रतिकार की भावना समाप्त कर दें

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि बालक को यह भी ज्ञात नहीं होना चाहिए कि उसके माता-पिता उसके कारण ही दण्डित हो रहे हैं। बालक का रागात्मक विकास का माता-पिता से इतना अधिक सम्बन्ध होता है कि इस प्रकार का ज्ञान उसके सम्पूर्ण चरित्र को प्रभावित कर सकता है। किन्तु जहाँ माता-पिता अत्यधिक निर्मम हो जाते हैं वहाँ तो दण्ड आवश्यक हो जाता है। ऐसे समय पर बालक को उक्त प्रभाव से बचाना अति आवश्यक है। एक मनोवैज्ञानिक समस्या को अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से देखने का आदी होता है। अतः वह अपने उद्देश्य को एक-एक पर्त उठाकर स्पष्ट रूप में हमारे सामने रख देता है। मनोवैज्ञानिक दण्ड के विषय मे कहते हैं कि दण्ड का स्वरूप निश्चित हो जाने पर उसका प्रभाव अपराधी तथा दुर्व्यवहार पर क्या पड़ता है, यह एक सोचने का विषय है। दण्ड के बाद उचित व्यवहार की भी व्यवस्था होनी चाहिए। इस व्यवस्था से अपराधी या अन्य कोई पुनः वह अपराध नहीं कर सकेगा। सन् १९३३ मे इगलैण्ड की पार्लियामेन्ट ने एक ऐक्ट इस निर्ममता तथा उपेक्षा को समाप्त करने के लिए बनाया था। किन्तु दुर्भाग्य से हमारे देश में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है। आर्थिक दण्ड से पारिवारिक व्यवस्था बिगड़ती है। कैद होने से सामाजिक प्रतिष्ठा पर आघात पहुँचता है। फलतः वह और भी निर्मम तथा क्रूर बन जाता है। यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस प्रश्न पर हमें गम्भीरतापूर्वक मनन करना चाहिए। दण्ड के बाद एक ऐसो व्यवहार की व्यवस्था निर्मित होनी चहिए कि दण्डित व्यक्ति पर दण्ड की विपरीत प्रतिक्रिया न हो। उपर्युक्त पक्तियों में हमने दण्ड की व्यवस्था तथा उसके औचित्य-अनौचित्य पर विचार किया है। आगामी अनुच्छेदों में व्यवहार की समस्या पर विचार करना हमारा उद्देश्य है।

उपेक्षा तथा निर्ममता मे अन्तर है। उपेक्षा को हम निर्ममता का ही एक अंश मानते हैं। दण्ड के साथ-साथ अपराधियों या दण्डितों के प्रति व्यवहार तथा उनके प्रशिक्षण की समस्या एक तुच्छ समस्या है। बहुत से

माता-पिता अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में स्वयं शारीरिक अथवा मानसिक निर्ममता के शिकार रह चुके हैं। समाज व्यक्ति पर उत्तरदायित्व छोड़कर बालक की सुरक्षा का तत्काल प्रबन्ध कराये। यह ध्रुव सत्य है कि माता-पिता की चारित्रिक पृष्ठ-भूमि को जाने बिना हम उपेक्षा तथा निर्ममता की समस्या को नहीं समझ सकते। न समझ सकने पर उसका उचित उपचार भी नहीं किया जा सकता। यह भी सम्भव है कि समाज की वर्तमान व्यवस्था निर्ममता के कारणों को कम करने की अपेक्षा बढ़ा रही हो।

परिवार की आर्थिक अव्यवस्था इस प्रकार की उपेक्षा तथा निर्ममता का एक बहुत बड़ा कारण है। इस समय इस समस्या के प्रमुख तीन रूप हैं—

(१) अभिभावक जो कि परिस्थितिवश जानबूझ कर बालक की उपेक्षा करते हैं।

(२) तरुण वर्ग जो कि गृहस्थ शिक्षा से अनभिज्ञ है और कल माता-पिता बनने वाला है।

(३) वे अभिभावक जो परिस्थितियों का सामना करने में असमर्थ हैं।

प्रथम वर्ग के अभिभावकों को उदार सामयिक निर्देश द्वारा समझाया

पूर्व गृहस्थी की पूरी शिक्षा प्राप्त कर ले, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए। विवाह की सफलता पति-पत्नी के उचित सहयोग पर ही आश्रित है। अभिशप्त वैवाहिक जीवन भी इस निर्ममता तथा उपेक्षा के कारण है। नारी पर घर का सुख सर्वाधिक निर्भर है। प्रश्न यह है कि क्रियात्मक तथा आध्यात्मिक शिक्षा में से कौन इस समस्या को अधिक अच्छी तरह से सुलझा सकेगी। पाठशालाएँ केवल लिखने-पढ़ने का ही उद्देश्य अपने समक्ष न रक्खें प्रत्युत मानव और उसके विकास की क्रियात्मक शिक्षा से विद्यार्थियों को अवगत कराये।

वर्तमान सभ्यता की अव्यवस्था से हम और आप सभी प्रभावित हैं। इसके प्रभाव से अछूता रहना लगभग असम्भव-सा है। धूम्रपान, शराबखोरी, जुआ, यौन सम्बन्धी अनैतिकता तथा रूढ़िवादिता हमारी सभ्यता के अभिशाप हैं।

धूम्रपान के कुछ मनोवैज्ञानिक कारण भी हैं। वह बालक जो सदैव मुँह में कुछ डाले रहने का आदी है, आगे चलकर धूम्रपान करने लगता है। प्रायः भावुकता को ठेस लगने पर धूम्रपान का सहारा लिया जाता है। शराबखोरी से दुनिया भर के अपराधों की संख्या में वृद्धि हो रही है। शराबखोरी ने कितने अच्छे-भले परिवार को समाप्त कर दिया। जुआ में तो व्यक्ति की स्थिति ही अनिश्चित होती है। जुआ का आदी अपना कार्यक्रम निश्चित नहीं कर पाता। इस अव्यवस्था के कारण बालक के प्रति निर्ममता का व्यवहार होना स्वभाविक ही है। जुए ने भी कितने सुखी परिवार को श्मशान बना डाला। अधिक धन तथा मनोरंजन पाने की लालसा में जुआरी बड़े से बड़ा खतरा उठाकर अपने जीवन को अभिशप्त बना देता है।

भावुकता मनुष्य से उसकी मानवता छीन लेती है। भावुकता के द्वारा नैतिक पतन होने के बाद व्यक्ति किसी भी काम का नहीं रह जाता। समाज में वह तिरस्कृत होता है। ऐसे लोगों के बालकों पर स्वभावतः

बुरा असर पड़ता है। सामान्य इच्छाओं की तृप्ति न होने पर साधारणतः मनुष्य का पतन होता है। संतुष्ट व्यक्ति निर्मम नहीं हो सकता। कहने का अभिप्राय यह कि समाज का यदि हर प्राणी संतुष्ट होगा,—चाहे वह इच्छाओं को विजय करके सन्तुष्ट हो, तो समाज सुखी और सम्पन्न होगा, तब इस प्रकार की निर्ममता भी लुप्त हो जायगी।

हमें उस दिन की प्रतीक्षा है जब हमारा समाज अपनी क्रोधाग्नि को शीतल करने में अपने निरीह बच्चों के भोले आँसुओं एवं दबती कराहों और चीखों का सहारा न लेगा। जब वह उनके बचपन में अपना बचपन देखकर उनकी भूलों का सुधार अत्याचार एवं अन्याय द्वारा न करके मनोवैज्ञानिक ढंग से करेगा। व्यक्ति के हित के लिए, परिवार के हित के लिए, समाज और देश के हित के लिए, संक्षेप में सम्पूर्ण विश्व एवं मानवता के हित के लिए, हम माता-पिता एवं संरक्षकों का यह कर्तव्य है कि हम अपने बच्चों के साथ ईमानदारी बरतें, जीना, जीने देना और जिलाना सीखें।

———